# अकथ

प्रवेशांक

2015-16

हिन्दी विभाग
सत्यवती महाविद्यालय

# विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से आयोजित
# दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी

# अकथ

## प्रवेशांक
**2015-16**


### संपादन मण्डल

डॉ. कविता राजन
डॉ. मुकेश मानस
श्री आशुतोष पाण्डेय
डॉ. राजेश कुमार
डॉ. विनोद चौबे

### छात्र संपादक

ज्योति
अश्विनी कुमार यादव
वेद प्रकाश



'अकथ' में प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं। उनसे संपादन मण्डल की सहमति अनिवार्य नहीं। लेखकों की रचनाओं की मौलिकता की जिम्मेदारी भी स्वयं लेखकों की है। किसी रचना की आंशिक या पूर्ण नकल के लिए स्वयं लेखक जिम्मेदार होंगे। विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।



आवरण चित्र : डॉ. मुकेश मानस



**हिन्दी विभाग**
**सत्यवती महाविद्यालय**

# विषय-सूची


| | | |
|---|---|---|
| ***प्राचार्य की कलम से*** | | **3** |
| ***संपादकीय*** | | **4** |
| ***लेखक से मुलाकात एवं चर्चा*** | | **6-36** |
| • प्रसिद्ध तेलुगु लेखक वाई.बी. सत्यनारायण से वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. जयप्रकाश कर्दम की बातचीत | | 6 |
| • वरिष्ठ कवि अशोक वाजपेयी से प्रो. गोपेश्वर सिंह की बातचीत 13 | | |
| • रमणिका गुप्ता एवं मैत्रेयी पुष्पा से डॉ. राजेश कुमार एवं डॉ. टेकचंद की बातचीत | | 22 |
| ***व्याख्यानमाला*** | | **37-38** |
| • 'भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी भाषा व संस्कृति के सरोकार'–प्रो. गिरीश्वर मिश्र | | 37 |
| ***पहला पाठ*** | | **39-46** |
| • आत्मकथा और उपन्यास के बीच मुर्दहिया | – ज्योति | 39 |
| • जातिवादी परंपरा को सलाम! | – अश्विनी कुमार यादव | 41 |
| • नो बार, कंडीशन अप्लाई | – प्रीति सिंह | 43 |
| • भारतेन्दु मण्डल के प्रतिक्रियावादी लेखक : प्रतापनारायण मिश्र | – वेद प्रकाश | 45 |
| • मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना | – तान्या लाम्बा | 46 |
| ***कविता की दहलीज़ पर युवा कदम*** | | **47-51** |
| • हालांकि मैं सिगरेट नहीं पीता | – शम्भु शर्मा "अमलवासी" | 47 |
| • शब्द | – ज्योति | 47 |
| • शिखा पारचा की कविताएँ | | 47 |
| • विचित्र आलेख | – आकाश पाण्डेय | 49 |
| • याचना जैन की कविताएँ | | 49 |
| • रमेश प्रजापति की कविताएँ | | 50 |
| • रीतु शर्मा की कविताएँ | | 50 |
| • रेश्मा की कविताएँ | | 51 |
| ***कुछ सोचते हुए*** | | **52** |
| • क्यों का महत्व | – नरेश | 52 |
| • मेरी ज़िन्दगी की सीख | – निखत | 52 |
| • जिम्मेदारी एक एहसास | – अंकुर | 52 |
| • यदि चाहिए अच्छा कल तो बन्द करो नकल | – श्वेता जैन | 52 |
| ***शिक्षक : सर्जना के झरोखे से*** | | **53-91** |
| • डॉ. विनोद चौबे की कविताएँ | | 53 |
| • मत्स्य कन्या | – डॉ. मुकेश मानस | 55 |
| • तुम ही तुम थे | – डॉ. मनोज कुमार | 57 |
| • आशुतोष पाण्डेय की कविताएँ | | 58 |
| • क़ायदा | – डॉ. संतोष सिंह | 59 |
| • खिड़की की बातें | – डॉ. प्रवीण | 60 |
| • चीजें जब लौटती हैं | – डॉ. मुकेश मानस | 62 |
| • यह नौकरानी डायरी नहीं लिखती | – डॉ. राजेश कुमार | 71 |
| • सांस्कृतिमूलक अध्ययन : अर्थ, संदर्भ एवं विकास | – डॉ. मुन्ना कुमार पाण्डेय | 81 |
| • विवाह प्रस्ताव | – अन्तोन चेखव (अनुवादक-डॉ. मंजुला दास) | 84 |
| ***रिपोर्ट*** | | **92** |
| • प्रतिबिम्ब-हिन्दी साहित्य सभा : एक रिपोर्ट | | 92 |

# प्राचार्य की कलम से

'अकथ'–नाम से ही स्पष्ट है कि जो कहा, वह पूर्ति मात्र का। अधूरा, अनकहा बहुत-सा रह गया। विचार कथनीय होते हैं, उद्देश्यों का स्पर्श भी करते हैं, परन्तु भावना अकथ होती है। मन में गुनगुनाहट-सी बिखेर देती है। प्रतीक्षा अकथ होती है, क्योंकि वह जताकर अपनी गरिमा को घटाना नहीं चाहती। प्रेम भी अकथ होता है, क्योंकि हृदय और नेत्रों के पास जुबाँ नहीं होती–'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी।' हिन्दी के प्राध्यापकों, छात्र-छात्राओं ने इस प्रथम प्रयास में स्वयं को उँड़ेला है, कड़ी-से-कड़ी मिलाई है, संभावनाओं के नए द्वार खोले हैं। जब हृदय-पिंजर का द्वार खुलता है तब आत्मा का पंछी फड़फड़ाकर उड़ान भरता है। पंख तौल लिए हैं, पथ अनन्त है, भविष्य ताज़गी का संकेत दे रहा है। यात्रा के प्रथम चरण में हम थकेंगे नहीं, अश्रुओं का, प्रयासों का, स्मित का, हौसलों का पाथेय लेकर सतर गति चलेंगे-आइए संकल्प करें। 'अकथ' का भविष्य उज्जवल है मित्रों! मैं कामना करती हूँ। साथ ही, अपनी एक कविता समर्पित करती हूँ–

कहना बहुत कुछ था
कहा कुछ न गया
छूकर पलक को
विवश आँसू बह गया

बातें बहुत-सी थीं
अगर खुलतीं कभी
थे घाव ढेरों
मन हमारा सह गया

घेरे बहुत थे, मीत
मैं बँधती यदि
बँटकर मेरा संसार
किन्तु रह गया।

सपने बहुत थे साथ
सच होते कभी
था सत्य कटुतम
भावना को दह गया

मैं एक, मन भी एक
राहें नापते
था सफ़र उलझा
उलझनों में वह गया

सोचा यही है, मौन को
किश्ती बना
उस पार भेजूँ
कह सकी जो कह लिया।

कविता के साथ ही 'अकथ' के भाव-विचारों को आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष है।

**मंजुला दास**

# संपादकीय

## लोचन अनँत उघाड़िया

वर्तमान समय में लघु पत्रिकाओं की बाढ़ सी आई हुई है, सांस्थानिक पत्रिकाएँ भी खूब निकल रही हैं। कुछ विभागीय पत्रिकाओं को एलबम की तरह देखा जाता है तो कुछ लघु पत्रिकाओं में अपना विशेष स्थान बनाने में भी सफल होती हैं। फेसबुक और व्हाट्स एप पर भी लिखा जा रहा है। लेखन-उद्योग खूब फल-फूल रहा है। उच्च-शिक्षा संबंधी सरकारी नीतियों ने भी लेखन कर्म को लेखन-उद्योग बनाने में विशेष भूमिका निभाई है। आई.एस.एस.एन. नंबर धारक लघु पत्रिकाएँ रातों-रात लघु से विराट हो गई हैं, कुछ राष्ट्रीय और कुछ अंतर्राष्ट्रीय हो गई हैं। कुछ तो ब्रहमांडीय पत्रिका होने का दम भरने लगी हैं। ब्रहमांडीय पत्रिकाओं में लेखकों का एलियन होना बहुत स्वाभाविक है। कुछ पाठकों ने एलिनस् के लेखन को शुरू-शुरू में कौतुक से पढ़ा लेकिन अच्छे से अच्छा पाठक भी ऊब से मरने लगा। पाठकों की दुनिया पहले से ही सीमित थी लेकिन इधर विराट पत्रिकाओं और शोध-प्रबंधों की छपाई से आतंकित भी है। छपाई पहले भी मुफ्त नहीं थी और आज भी नहीं है। लेकिन पैसे देकर पुस्तकें छपवाने वाले लेखक न के बराबर थे। एलियननुमा लेखकों को पैसे की परवाह नहीं, वे तो विभिन्न पत्रिकाओं में लेख छपवाने के लिए भी पैसे देने को प्रस्तुत रहते हैं। इन्हीं एलियननुमा लेखकों के दम पर लघु पत्रिकाओं ने विराटता हासिल की है। (नोट : एलियननुमा लेखकों से तात्पर्य ऐसे प्राणियों से है, जिनकी रुचि कुछ भी लिखने की नहीं होती लेकिन वे कुछ न कुछ छपवाने को बाध्य होते हैं, भले ही दूसरों का लिखा हुआ अथवा पहले से छपा हुआ अपने नाम से छपाना पड़े। इनके नाम से छपी पुस्तकों में विरूद्धों के सामंजस्य के बेहतरीन उदाहरण मिलते हैं क्योंकि एक ही लेखक आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डॉ. धर्मवीर (दोनों) के लिखे हुए को अपने नाम से छपवा सकता है।)

लेखन-उद्योग के लिए एलियननुमा लेखक सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। पाठकों के बिना भी इन लेखकों की उपयोगिता स्वत: सिद्ध है। लेखन-उद्योग में पाठकों की कोई हैसियत नहीं है, कहना तो यह चाहिए कि इस उद्योग में पाठकों की जरूरत ही नहीं है। वर्तमान समय के अधिकांश लेखकों में एक प्रवृत्ति कॉमन है कि पाठक किसी को नहीं चाहिए, पाठकों के नाम पर ऐसे प्रशंसकों की तलाश रहती है, जो पढ़े-बेपढ़े ही थम्स्-अप-साइन करते रहें।

ऐसे प्रशंसकों की एक विशेषता यह है कि वे किसी भी अवसर पर और किसी भी बात पर थम्स्-अप-साइन दे सकते हैं। आपने उत्सव की कविता लिखी हो या शोकगीत उस पर पेशेवर प्रशंसक समान भाव से थम्स-अप-साइन करेगा, वह आपके उत्सव और शोक से पूरी तरह तटस्थ होता है। यदि आप मर रहे हैं, तो भी आपका प्रशंसक वाह-वाह कर सकता है–"वाह, क्या बात है! आप मर रहे हैं? ये बताइए कि आप किसके इश्क में मर रहे हैं?" वह आपके मुर्दे को भी थम्स्-अप-साइन कर सकता है–"वाह, क्या बात है! आप तो महायोगी निकले। आप समाधि-अवस्था में पहुँच गए, आप कितने घण्टों से बिना अन्न, जल और वायु के भी स्थिरचित्त हैं! वजह-बेवजह और गलत जगह वाह-वाह करने वाले प्रशंसक पहले भी पाए जाते थे लेकिन अप्रासंगिक थे। फिराक़ गोरखपुरी जैसे शायर और लेखक इन्हें दुर-दुराते थे।

वर्तमान समय में पाठक विलुप्त होने की कगार पर हैं, पेशेवर प्रशंसक इनकी जगह ले रहे हैं। हिन्दी साहित्य पर इसका व्यापक असर पड़ा है कि हिन्दी साहित्य में आलोचना का युग समाप्त हो रहा है और फ्लैप देखकर समीक्षा लिखे जाने का युग शुरू हो चुका है। ऐसी समीक्षाएँ लिखने के लिए भी पेशेवर प्रशंसक सबसे उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। लेखन-उद्योग के विकास में इन प्रशंसकों और एलियननुमा लेखकों का विशेष योगदान है।

जिस दौर में लेखन-उद्योग इतना फल-फूल रहा हो, उस दौर में किसी नई पत्रिका के आने के क्या मायने हैं? यह प्रश्न स्वाभाविक है। 16 जनवरी, 2016 को आयोजित हिन्दी-विभाग, सत्यवती महाविद्यालय की विभागीय बैठक में विभागीय पत्रिका (साहित्यिक) शुरू करने का प्रस्ताव स्वीकार किया गया तो तब भी हमारे समक्ष पहला प्रश्न यही था कि हिन्दी विभाग द्वारा पत्रिका शुरू करना कितना जरूरी और महत्त्वपूर्ण है? इसी से जुड़े हुए कुछ प्रश्न और थे–पत्रिका का स्वरूप कैसा होगा? उद्देश्य क्या होगा? यह पत्रिका किसके लिए होगी? पत्रिका के स्वरूप, उद्देश्य और नामकरण आदि को लेकर लंबी-लंबी चर्चाएँ हुईं लेकिन 'पत्रिका किसके लिए होगी?' इस प्रश्न पर सभी सदस्य एकमत थे कि यह हिन्दी विभाग की रचनात्मक गतिविधियों पर केन्द्रित होगी, विद्यार्थियों की रचनात्मक संभावनाओं को तलाशने और उनका विकास करने में 'अकथ' (पत्रिका) का विशेष योगदान होगा। लिखने के मामले में हम शिक्षक थोड़ा आलस्य करने लगते हैं क्योंकि कक्षाओं में व्याख्यान देने में ही हमारा मन रमने लगता है। स्वयं को कक्षाओं के लिए समर्पित करने के बाद भी जिन शिक्षकों की प्राथमिकताओं में लेखन कार्य रहता है, उनके लेखन-कार्य में कॉलेज के प्रशासनिक कार्य एवं अन्य व्यस्ताएँ बाधा बनते हैं। कॉलेज के प्रशासनिक कार्य शिक्षकों की रचनात्मक ऊर्जा को सोखने

लगते हैं। अत: यह निर्णय भी लिया गया कि हम शिक्षक भी 'अकथ' के लिए यथासंभव लिखेंगे। शिक्षक अकथ में लिखने के लिए बाध्य नहीं होंगे, जैसा कि ए.पी.आई. स्कोर अर्जित करने के लिए बाध्य किया जा रहा है।

"क्या अकथ के लिए आइ.एस.एस.एन. नम्बर भी लिया जायेगा?" इस प्रश्न को विशेष महत्त्व दिए बिना छोड़ दिया गया। 'अकथ' के आई.एस.एस.एन. नंबर धारक होने पर इसे विराटता की मारी पत्रिकाओं की जमात में शामिल होने से बचाने की चुनौती का सामना करना पड़ता। हमारे लिए यह एक अनावश्यक चुनौती होती, इसके बदले हमने रचनात्मक चुनौतियों को स्वीकार किया है।

'अकथ' होने के क्या मायने हैं? यह माननीय प्राचार्य महोदया ने अपने संदेश में संकेत किया है। उन्होंने भावना, प्रतीक्षा और प्रेम को प्रमुख रूप से 'अकथ' मानते हुए विचार को कथनीय माना है। अर्थात 'अकथ'- में भावना, प्रतीक्षा (बदलाव की प्रतीक्षा) और प्रेम का प्रमुख होना स्वाभाविक है। यद्यपि विचार भी अक्सर अकथ रह जाते हैं। बकौल अशोक वाजपेयी भाषा मनुष्य का सबसे चमत्कारिक और महत्वपूर्ण आविष्कार है। बावजूद इसके भाव और विचार दोनों की अभिव्यक्ति के मामले में भाषा की सीमाएँ स्पष्ट हैं। 'अकथ' के माध्यम से हमने भाषा की इन्हीं सीमाओं की चुनौती को स्वीकार किया है। 'अकथ' में संवेदनाओं की गहराई और विचारों की ऊँचाई होगी, ऐसा हमारा विश्वास है। विद्यार्थियों की रचनात्मक संभावनाओं और शिक्षक साथियों के सहयोग ने हमारे विश्वास को मजबूत किया है।

'अकथ' के प्रवेशांक के लिए विद्यार्थियों से प्राप्त रचनाएँ इस बात का उदाहरण हैं कि उनके पास कहने को बहुत कुछ है लेकिन उपयुक्त मंच और अपेक्षित अभ्यास के अभाव में उनके भाव और विचारों का दशमांश ही कथनीय बन पाया है, बाकी सब अकथ रह गया है। विद्यार्थियों के लिए 'अकथ' विशेष मंच बनेगा, विद्यार्थी रचनात्मक अभ्यास के लिए प्रेरित होंगे और उनकी रचनात्मक संभावनाओं का विकास एवं विस्तार होगा।

यद्यपि बड़े से बड़ा लेखक भी यह दावा नहीं करता कि उसने जो कछ भी कहना चाहा, अपनी रचना में सब-कुछ कह दिया है! रचना में जो कहा गया, उसे पाठकों ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया, यह दावा करना तो और भी मुश्किल है। ऐसे में भावों और विचारों का अकथ रह जाना, भाषा में कहीं खो जाना या कुपाठ का शिकार हो जाना स्वाभाविक है।

हिन्दी साहित्य के संपूर्ण इतिहास में 'कबीरदास' एकमात्र ऐसा नाम है, जिसे 'भाषा का डिक्टेटर' कहा गया है। भाषा के उस डिक्टेटर ने 'अकथ कहानी प्रेम की' जैसा पद रचा। जिस कबीर ने पोथियों को अपर्याप्त मानते हुए 'ढाई आखर प्रेम' को ही जीवन का सार माना है, वही कबीर प्रेम के इस ढाई आखर को 'अकथ' मानते हैं। अर्थात भाषा का डिक्टेटर भी यह मानता है कि भाषा प्रेम के ढाई आखर को पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर सकती।

कबीर ने अपनी साखियों में बार-बार 'सतगुरु' का जिक्र किया है-

**सतगुर हम से रीझकर, एक कह्या प्रसंग**
**बरस्या बादल प्रेम का, भीज गया सब अंग**

अर्थात सतगुरु के एक प्रसंग मात्र से उस ढाई आखर प्रेम की बरसात हो जाती है जो 'अकथ' है। इसी प्रकार अन्यत्र भी सतगुरु की महिमा बताई गई है-

**सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार,**
**लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार।**

कबीर का सतगुरु तो हमें नहीं मिलता लेकिन उनकी कविता ही हमारे लिए सतगुरु की भूमिका निभाती है। एक उत्कृष्ट कविता (उत्कृष्ट रचना) 'अनंत लोचन उघाड़ने' की बात करती है।

यदि हम अनंत लोचन न उघाड़ पाएँ तो अनंत दीवारों के पार देखने के लिए इतना तो कर सकते हैं कि इन अनंत दीवारों में खिड़कियाँ तलाशें। जाति, धर्म, संप्रदाय, नस्ल, लिंग, क्षेत्र, पूँजी और सभ्यताओं... जैसी इन अनंत दीवारों को गिराने में कितनी ही क्रांतियाँ खप गईं लेकिन ये दीवारें आज भी मुँह चिढ़ा रही हैं। शायद इसी चिढ़ को मुँह चिढ़ाने के लिए हमने वसुधैव कुटुम्बकम् का नारा दिया था। लेकिन ऐसे आदर्श वचनों या नारों से इन दीवारों का कुछ नहीं बिगड़ता। अंतत: इन दीवारों के पार देखने के लिए खिड़कियाँ तलाशनी और बनानी ही होंगी ताकि प्रत्यक्ष युद्धों और छद्म युद्धों के इस दौर में महाशक्तियों की पताकाएँ लहराने की जिद् के शिकार हुए सीरिया जैसे देशों के निर्दोष नागरिकों की चीत्कार शायद हम तक पहुँच जाए। अकथ ऐसी ही खिड़कियाँ तलाशने और बनाने का प्रयास है।

**डॉ. राजेश कुमार**

# लेखक से मुलाकात एवं चर्चा
## प्रतिबिम्ब
### हिन्दी साहित्य सभा, सत्यवती कॉलेज

**प्रसिद्ध तेलुगु लेखक वाई.बी. सत्यनारायण से वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. जयप्रकाश कर्दम की बातचीत**

**विशेष संदर्भ : 'मेरे पिता बालैय्या' (दलित आत्मकथा)**

**डॉ. प्रवीण (विषय प्रस्तावना) :** साहित्य की जमीन बदल रही है, बदल ही नहीं रही पलट रही है। इसे पलटने का काम दलित साहित्य ने किया है। सत्यनारायण जी की पुस्तक से चार पंक्तियाँ याद कीजिए–"एक लंबा आदमी भारी मन से अपने गाँव से दूर चला जाता हुआ, उसकी पीठ से उसकी पत्नी का शव बँधा हुआ था और साथ घिसटता हुआ चला जाता था उसका छोटा सा बेटा।" मुझे याद नहीं कि गैरदलित साहित्य में ऐसा कोई बिंब उभरा हो। ये अहसास शायद हिन्दी जगत में नहीं होता यदि दलित साहित्य नहीं होता। 'मेरे पिता बालैय्या' को पढ़ते वक्त जो बिंब उभरकर आया, उसी से विषय प्रस्तावना का भी संबंध है। हिन्दी साहित्य में पिता-पुत्र का क्या बिंब है–'घीसू और माधव'। हिन्दी पट्टी के दलित परिवारों के पिता और पुत्र की छवि को 'घीसू-माधव' के साथ जोड़कर देखा जाता है। अर्थात बड़े क्रूर, आरामतलब, संबंधों में जड़ता के शिकार और अमानवीय पिता-पुत्र हैं। हिन्दी पट्टी को सत्यनारायण जी ने बताया कि दलितों में पिता और पुत्र के संबंध इतने क्रूर नहीं होते, जो घीसू-माधव के रूप में हमारे दिमाग में बैठे हुए हैं। दलित आत्मकथाओं के दौर में इससे बड़ी श्रद्धांजलि क्या हो सकती है कि सत्यनारायण जी ने पिता को याद किया है। वह चाहते तो आत्मकथा भी लिख सकते थे लेकिन यह जीवनी है। इस जीवनी में अपनी पीढ़ियों के संघर्ष को अभिव्यक्त किया है। संबंधों की जो उष्मा "मेरे पिता बालैय्या" में है, क्या ऐसी उष्मा हिन्दी दलित साहित्य में भी है, जिसे हम अनदेखा कर रहे हैं? पहली प्रस्तावना।

हम तेलंगाना को किस रूप में जानते हैं? राष्ट्रवाद की प्रयोगशाला के रूप में! बिपन चंद्रा के रूप में या सुमित सरकार के रूप में? 'मेरे पिता बालैय्या' से एक और तेलंगाना दिख रहा है। संघर्ष करते हुए दलित समुदाय, गरीबी में छटपटाता हुआ बचपन, भूख और गरीबी। राष्ट्रवाद की प्रयोगशाला में शायद ही कभी इन विषयों पर चर्चा हो! कम से कम हिन्दी क्षेत्र तो तेलंगाना को वामपंथी और गैरवामपंथी संघर्षों के लिए जानता हैं। इस पुस्तक से तेलंगाना का एक नया परिचय हिन्दी समाज को मिलता है। आज की चर्चा की दूसरी प्रस्तावना–डॉ. अंबेडकर के शब्दों में, "भारतीय गाँव लोकतंत्र का सीधा नकार है।"

जिस पिता को सत्यनारायण जी याद कर रहे हैं, उन्हें अंग्रेजी-राज में नौकरी मिली। तो आज की चर्चा की तीसरी प्रस्तावना है–अंग्रेजी-राज भारत में अच्छा या बुरा? भारत में अंग्रेजी राज को किस रूप में देखें?

पुस्तक पढ़ते हुए एक सूत्र पकड़ में आ रहा था–स्मृति और सपने के बीच लगभग सौ वर्षों को लेखा-जोखा है। लेखक की स्मृति में एक दादा जी हैं, जो हैदराबाद के निज़ाम के जूते बना रहे हैं। पिता हैं, जो गरीबी और भुखमरी में संघर्ष कर रहे हैं, नौकरी पा रहे हैं, फिर भी अपमानित हैं, फिर भी संघर्ष करना पड़ रहा है। एक पोती है, जो अमेरिका में पैदा हुई है। बहुत सुंदर, बहुत प्यारी और पवित्र है। इस सर्कल को थोड़ा आगे बढ़ाते हुए अंतिम प्रस्तावना दलित जीवन और दलित रचनाशीलता का भविष्य कैसा होगा? धन्यवाद।

**डॉ. राजेश कुमार**–धन्यवाद प्रवीण जी। संचालक की भूमिका को अत्यंत सीमित करते हुए मैं प्रस्तावित विषय पर चर्चा के लिए अपने अतिथियों को आमंत्रि करता हूँ।

**जयप्रकाश कर्दम :** कॉलेज की प्राचार्य डॉ. मंजुला दास, सत्यवती कॉलेज के सभी अध्यापक और विद्यार्थी आप सभी का स्वागत है। हमारे लिए यह सुखद अवसर है कि अंग्रेजी के लेखक (तेलुगु तक सीमित नहीं) वाई.वी. सत्यनारायण जी हमारे बीच में हैं और उनकी आत्मकथा 'माई फादर बालैय्या' का हिन्दी अनुवाद 'मेरे पिता बालैय्या' स्वराज प्रकाशन से आया है। इस आत्मकथा के बहाने कुछ मुद्दों पर चर्चा करने का प्रयास करेंगे, सत्यनारायण जी के साथ।

मित्रो, जैसा कि अभी डॉ. राजेश कुमार जी ने बताया कि दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी अंततः अस्मितामूलक विमर्शों को स्वीकार किया गया है, इसमें दलित साहित्य, स्त्रीवादी साहित्य एवं आदिवासी साहित्य पढ़ाया जाने लगा है। इसमें आत्मकथाओं को भी विशेष स्थान मिला है। हिन्दी पट्टी में दलित साहित्य की एक बड़ी पहचान आत्मकथाओं से है। कई जगह दलित आत्मकथाओं को लेकर ही बात शुरू होती है और वहीं पर खत्म भी कर दी जाती है। हिन्दी पट्टी में आत्मकथाओं से इतर लेखन पर बहुत गौर नहीं किया गया। दलित आत्मकथाओं ने साहित्य में एक जमीन तोड़ी है। और साहित्य में नये विमर्श को जन्म दिया है। मैं समझता हूँ कि प्रो. सत्यनारायण जी की आत्मकथा का हिन्दी में आने को भी उसी श्रृंखला की कड़ी के

रूप में देखना चाहिए, भले ही यह अंग्रेजी में लिखी गई है, भले ही इस आत्मकथा का लेखक तेलुगु भाषी है और लेखक का औपचारिक रूप से साहित्य से कोई जुड़ाव नहीं रहा, न वे साहित्य के विद्यार्थी रहे, न वे साहित्य के लेखक रहे और जैसा कि हमने सुना है वे कैमेस्ट्री के प्रोफेसर रहे। कैमेस्ट्री के प्रोफेसर होने के नाते कार्बनिक और आकार्बनिक कैमेस्ट्री के विशेषज्ञ हैं ही, वह सोशल कैमेस्ट्री को भी भली-भाँति समझते हैं। मैं उनसे प्रश्नों का सिलसिला यहीं से शुरू करूँगा कि उन्होंने सोशल कैमिस्ट्री को किस रूप में देखा है? क्योंकि यहीं से (इन प्रश्नों से) इस आत्मकथा को समझने के रास्ते खुलेंगे।

सत्यनारायण जी, मेरा आपसे पहला प्रश्न यही है कि आपने कैमेस्ट्री के प्रोफेसर होने के नाते सोशल कैमेस्ट्री को किस रूप में देखा?

**प्रो. वाई.बी. सत्यनारायण :** धन्यवाद सभी को, मेरा हिन्दी उतने अच्छी नहीं होती है, फिर भी में प्रयास करूँगा कि मैं हिन्दी में बोलूँ। हमारे हैदराबाद अइसी सिटी है, जहाँ हिन्दी को हिन्दुस्तानी बोलते है और उसमें हिन्दी में उर्दू मिक्स होता है तो क्षमा कीजिए अगर हिन्दी और उर्दू का मिक्स आप सुन सके तो उसमें तोड़ा दिक्कत तो नहीं होगा मेरे ख्याल से। दूसरी चीज ये कि मैं लेखन के फील्ड में बहुत ही नया हूँ। लेकिन मैं आपको दो तीन चीज बता सकता हूँ कि कैमेस्ट्री प्रोफेसर होते हुए मैं ये किताब अंग्रेजी में कैसे लिखा हूँ। इससे पहले मैं अपना एक फैमिली बैकग्राउंड आपको देना चाहता हूँ।

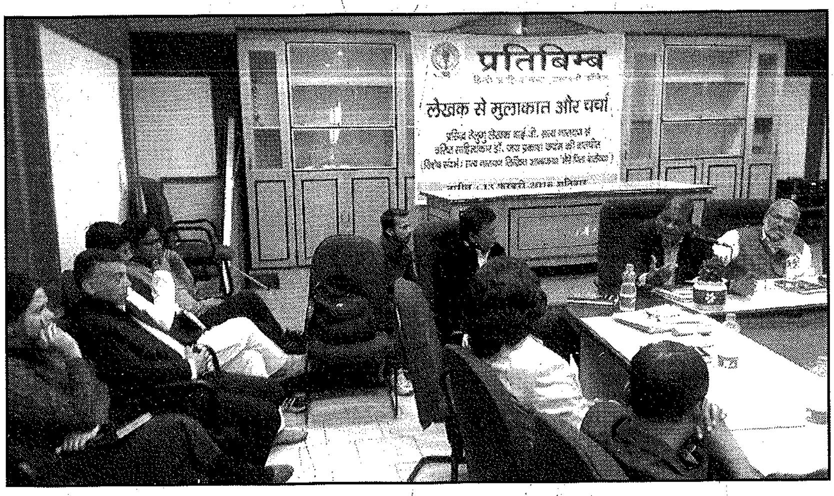


(नोट: प्रो. सत्यनारायण जी की हैदराबादी हिन्दी को संवाद के अगले हिस्से में प्रस्तुतकर्ता ने बदलते समय संवाद की अंतर्वस्तु को यथावत रखने का प्रयास किया है।)

मैं चमार जाति से हूँ, हमारी बहुत बड़ी फैमिली है, ग्यारह बच्चों में दो बच्चियां हैं। चमार जाति के हमारे परिवार में तीन डॉक्ट्रेटस हैं, चार अकादमिक हैं। उस दौर में दलित परिवारों से एडमिनिस्ट्रेटर तो आपको मिल जाएंगे लेकिन अकादमिक मिलना मुश्किल है, इस मायने में हमारा परिवार अपवाद है। मेरे एक भाई सोशोलॉजी के प्रोफेसर थे, एक भाई बॉटनी के प्रोफेसर, एक भाई जूलॉजी के प्रोफेसर थे। पढ़ने लिखने में मेरी रुचि शुरू से थी, मैं बचपन में ही अंग्रेजी उपन्यास पढ़ता था। कैमेस्ट्री पढ़ना मेरे जीवन का एक मोड़ था, एक संयोग था। यदि मैं साहित्य का शोधार्थी होता या मेरे पिता साहित्यकार होते तो मैं आज शायद कुछ और होता। लेकिन कोई अफसोस नहीं क्योंकि 'मेरे पिता बालैय्या' ने मुझे एक बड़ी पहचान दी है, यह पुस्तक विभिन्न भाषाओं में और विभिन्न विश्वविद्यालयों में चर्चित है।

इस पुस्तक को लिखने का विचार मुझे दलित जीवन पर लिखी एक किताब पढ़कर आया। इस किताब का नाम था 'रूट्स', इसमें एक दलित परिवार की सात पीढ़ियों की कहानी थी। मैंने अपने भाई प्रोफेसर ऑफ सोशोलॉजी से इस पर चर्चा की कि क्यों न हम भी अपने परिवार की बॉयोग्राफी लिखें? मेरे भाई ने जवाब दिया, "मुझमें लिखने का धैर्य नहीं है, आप लिख सकें तो लिखें।" तब मुझे विचार आया कि मुझे अपने परिवार की चार पीढ़ियों की बायोग्राफी लिखनी चाहिए क्योंकि मेरे परदादा की पीढ़ी से मेरे परिवार (दलित परिवार) के संघर्ष और उत्थान की कहानी शुरू होती है। मित्रो मेरी यह किताब ही कर्दम जी के पहले प्रश्न का उत्तर दे सकती है।

**जयप्रकाश कर्दम :** ये जो किताब है, 'मेरे पिता बालैय्या' हिन्दी-मराठी और अन्य भाषाओं की आत्मकथाओं से अलग है। इस किताब को पूरी तरह आत्मकथा भी नहीं कह सकते क्योंकि यदि यह आत्मकथा होती तो इसके केन्द्र में सत्यनारायण का जीवन होता। उनके जीवन संघर्षों और सफलता की कहानी होती। इस किताब के पहले 128 पृष्ठों में सत्यनारायण जी के पूर्व की तीन पीढ़ियों की कहानी है अर्थात जब आधी किताब खत्म हो जाती है, तब सत्यनारायण जी के जीवन की कहानी शुरू होती है। यह एक व्यक्ति की आत्मकथा नहीं है, इसे एक दलित परिवार की आत्मकथा कहना चाहिए। इसमें एक दलित परिवार की चार पीढ़ियों के संघर्ष की कहानी है।

यह किताब अन्य अत्मकथाओं से इस मायने में भी भिन्न है कि अन्य आत्मकथाओं में लेखकों के जीवन के भोगे हुए दर्द, यातना अथवा जिजिविशा हैं, अभिव्यक्त हुए हैं लेकिन इस किताब में महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसमें रेलवे और दलित जीवन के संबंधों को एक दलित परिवार के तीन पीढ़ियों के संघर्षों और उन पर रेलवे के प्रभावों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इनकी तीन पीढ़ियों को रेलवे में काम इसलिए मिला क्योंकि उस क्षेत्र में सबसे पहले रेलवे लाइन बिछाई गई। उस समय निजाम का शासन था। अंग्रेजों का शासन था। विजयवाड़ा में जाकर जहाँ

निजाम की टेरिटेरी समाप्त होती है। वहाँ अंग्रेजों की टेरिटेरी में भी रेलवे लाइन बिछवाई, रेलवे लाइन बिछाने के इस कठोर परिश्रम वाले काम को अधिकांशत: निचली जाति के लोग करते थे।

इस क्षेत्र में शूद्रों अछूतों को रेलवे में चाहे-अनचाहे नौकरियां मिलीं, सत्यनारायण जी की तीन पूर्व पीढ़ियों को भी नौकरियां मिलीं। अत: उनके अनुभव मराठी-हिन्दी एवं अन्य भाषा के दलित लेखकों से भिन्न हैं। इसका एक असर यह हुआ कि सत्यनारायण जी एवं उनके संबंधियों के परिवार में भी रेलवे की नौकरी से आगे नहीं सोचते। उनका कोई बड़ा सपना नहीं है, उनका सपना बस रेलवे में नौकरी पाना है। यह नौकरी चाहे बक्सा ढोने वाले की हो, ढिबरी जलाने वाले की या अन्य कोई भी श्रम का काम। कुछ भी हो ये काम उनकी आजीविका का आधार बने।

कुछ भी हो उस क्षेत्र के दलितों के जीवन में रेलवे की नौकरी ने बड़े बदलाव किए। एक बदलाव तो यह कि इन दलितों को बंधुआपन से मुक्ति मिली, दूसरा यह कि उनको रेलवे कॉलोनियों में रहने की सुविधा मिली, उन्हें गाँव से निकलकर शहरों और कस्बों में बसने का मौका मिला। रेलवे में शारीरिक श्रम का काम करने वाले शूद्रों अछूतों के रेलवे क्वार्टर अधिकारियों के आवास से भले ही दूर होते थे लेकिन उनकी जीवन शैली के प्रभाव से वे अछूते नहीं थे। उनसे प्रभावित होकर दलितों-पिछड़ों ने भी अपने बच्चों को उच्च शिक्षा दिलाना शुरू किया।

भारतीय रेलवे और जातिव्यवस्था के संदर्भ में कार्ल मार्क्स ने कहा था कि रेलवे का जितना विस्तार होगा, उतना ही जाति व्यवस्था टूटेगी। लेकिन यहाँ रेलवे के विस्तार के साथ कुछ दलित परिवारों को रोजगार तो मिल रहा है, उनकी जिंदगी में बदलाव भी आ रहा है। लेकिन जाति नहीं टूट रही। जाति बराबर अपना काम कर रही है। अत: तमाम बदलावों के बावजूद सत्यनारायण जी के पिता, दादा और परदादा सबको जाति का दंश झेलना पड़ा है।

सत्यनारायण जी, इस पहलू पर भी प्रकाश डालें कि यदि उनकी तीन पूर्व पीढ़ियाँ रेलवे में नौकरी नहीं कर रहीं होती तो सत्यनारायण अपने आपको कहाँ पाते?

**प्रो. वाई.बी. सत्यनारायण :** आपने बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। दरअसल विकास की प्रक्रिया में माइग्रेशन बहुत महत्वपूर्ण है। अगर आप पश्चिमी देशों में जाकर पढ़ाने की सोचें, वहाँ नौकरी करें, वहीं बस जाएँ तो माइग्रेशन डवलपमेंट का रूट बन जाता है। मेरी पुस्तक में, कहानी में 4 चीज महत्वपूर्ण हैं।

1. लैण्ड, 2. माइग्रेशन, 3. अंपलॉयमेंट, 4. ऐजुकेशन। पूरी कहानी इन्हीं चीजों के आसपास घूमती रहती है।

मेरे परदादा ने बहुत अच्छे जूते चप्पल बनाए। एक बार निजाम को जूते उपहार दिए। इन जूतों का चमड़ा एकदम मखमली था। परदादा के इस उपहार से निजाम बहुत खुश हुआ और बदले में उसने 50 एकड़ जमीन परदादा को दी। मेरे परदादा 'नरसीगा' बहुत हैरान हुए क्योंकि उस समय दलित भूमिहीन थे। जब इस 50 एकड़ जमीन की बात सुनकर जमींदार ने उन्हें बुलाया तो वे बुरी तरह डर गए। जमींदार भी बेहद गुस्से में था, उसने कहा- "क्यों बे नरसीगा ये पचास एकड़ जमीन लेकर क्या मेरे बराबर बैठेगा? सरकार को गिफ्ट देने की तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई?" मेरे परदादा ने कहा, "मैं आपका गुलाम हूँ, मालिक। आई एम एट योर फीट।"

जमींदार ने मेरे परदादा के पास दो एकड़ जमीन छोड़कर सारी जमीन हड़प ली। दो एकड़ जमीन पाकर भी मेरा परदादा बहुत खुश हुआ, एक दलित के लिए दो एकड़ भी बहुत थी। उसे सबसे बड़ी खुशी तो यह थी कि चलो जान बच गई।

......माफ कीजिएगा कर्दम जी, आपका प्रश्न क्या था?

**जयप्रकाश कर्दम :** यदि आपकी तीन पूर्व पीढ़ियाँ रेलवे में नौकरी नहीं कर रही होतीं, आपके पिता और दादा बेरोजगार होते तो आप अपने आप को कहाँ पाते?

**प्रो. वाई.बी. सत्यनारायण :** यदि हमारी पूर्व पीढ़ियों को रेलवे में नौकरी करने का अवसर न मिला होता तो मैं भी अपने दादा-परदादा की तरह जातीय अपमान और जातीय उत्पीड़न झेलने को बाध्य होता। हालांकि अभी भी बहुत कुछ झेला ही है। अभी भी जातिवादी पीठ पीछे गाली देते हैं, तब वे मुँह पर ही जाति का जहर उगल रहे होते। मैं भी अपने परदादा की तरह जान की खैर माँग रहा होता।

अभी भी जिनके पिता और दादा गाँव में हैं, जिनको नौकरी का अवसर नहीं मिला वे भूमिहीन मजदूर हैं, वे जातीय उत्पीड़न के शिकार हैं। हमारी तीन पीढ़ियों का कायाकल्प कैसे हुआ, सुनिए, पहली पीढ़ी का... मेरे परदादा जमींदार के गुलाम थे, 24 घण्टे उसका हुक्म बजाते थे। निजाम से मिली पचास एकड़ जमीन में से जो दो एकड़ जमीन परदादा को मिल पाई थी, उस पर भी जमींदार के बेटे की आँख गड़ी हुई थी। वह तरह-तरह से मेरे परदादा का उत्पीड़न करता था। एक उत्पीड़न यह भी था कि सभी अछूत औरतों को जमींदार का हुक्म मानना होता था।

मेरी दादी ने जमींदार का प्रतिरोध किया। इसके बाद मेरे दादा अपनी दो एकड़ जमीन और फसल को छोड़कर, गाँव को छोड़कर चले गए। फिर उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। माइग्रेशन इज वन ऑफ दा इंम्पार्टेंट फेक्टर फॉर डवलपमेंट ऑफ दलित कम्युनिटिज। औपनिवेशिक ढाँचा एक अपवाद था, जिसमें एक अछूत रेलवे कर्मचारी हो सकता था अन्यथा एक अछूत हमेशा अछूत होता हैं, आज भी है। अंबेडकर ने कहा था, " "महात्माज् हैव कम, महात्माज हैव गॉन; अनटचेबल रिमेन अनटचेबल।"

**जय प्रकाश कर्दम :** सत्यनारायण जी ने भारतीय गाँव की सच्चाई को उजागर किया है। हम में से बहुत से लोग इस सच को स्वीकार नहीं कर पाते कि अभी भी भारतीय समाज में अस्पृश्यता है, भेदभावपूर्ण व्यवहार होता है। इस सच को स्वीकार न करने का

एक कारण यह हो सकता है कि दिल्ली जैसे महानगरों में, जहाँ आप लोग (विद्यार्थियों की ओर संकेत करते हुए) रहते हैं, वहाँ मिक्स पॉपुलेशन है। शिक्षा का थोड़ा असर है। लेकिन दिल्ली में भी आप मलिन बस्तियों में जाएं तो यहाँ भी अस्पृश्यता की बीमारी मिलेगी, गाँव-देहात की तो बात छोड़ ही दें, वहाँ तो अस्पृश्यता का गढ़ हैं, जातिवाद तांडव करता है।

सत्यनारायण जी, आपने इस पुस्तक में दिखाया है कि दो एकड़ जमीन मिल जाने के बाद भी जातिवाद के गढ़, उस गाँव में आपके दादा को सर्वाइव करना कितना मुश्किल हो रहा है! दूसरी तरफ अपनी ही जाति के कुछ परिवार ऐसे हैं, जिनमें यह फैला दिया गया है कि आपका परिवार एक अलग तरह का परिवार है, एक जमींदार परिवार है अर्थात् यह अपनी जाति के लोगों के बीच एक अलग तरह का पार्थक्य है। यह अलगाव इस हद तक है कि जब आपके परिवार में हैजे से कई मौतें होती हैं तो लाश को शमशान घाट ले जाने के लिए भी कोई साथ नहीं आता। अर्थात् जहाँ पूरा समाज दासता का जीवन जी रहा है, वहाँ एक परिवार को कुछ अवसर मिल जाते हैं, कुछ सुविधाएँ मिल जाती हैं तो उस परिवार को इस तरह अलगा दिया जाता है।

एक तरफ तो ऐसी विकट परिस्थितियाँ हैं लेकिन दूसरी तरफ आपके दादा का दृढ़ निश्चय है कि उन्हें दासता के जीवन से मुक्त होना है। इसके लिए वे अपना घर छोड़ देते हैं। अपनी दो एकड़ जमीन छोड़ देते हैं, रातोंरात गाँव छोड़ देते हैं। वह दासता से मुक्ति के लिए संघर्ष ही नहीं करते अपितु बच्चों को भी इस दासता से मुक्ति का संस्कार देते हैं। मुक्ति का यह संस्कार आपके पिता बालैय्या के माध्यम से आप तक पहुँचता है। आपके पिता इतने जागरुक हैं कि वह अपने बच्चों को शिक्षा (उच्च शिक्षा) देने और मुक्ति का संस्कार देने को प्रतिबद्ध हैं। उनकी प्रतिबद्धता और अनुशासन बाबा साहब अंबेडकर के पिता रामजीराव की याद दिलाता है। आपके पिता भले ही कम पढ़े-लिखे हैं लेकिन चीजों को समझते हैं। वे स्वाभिमानी हैं और अन्याय का प्रतिकार करते हैं। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि वे जातीय उत्पीड़न का प्रतिकार नहीं करते, खुलकर विरोध नहीं करते। वे स्वयं को हरिजन भी कहते हैं। आपके पिता पर गाँधी का प्रभाव तो है लेकिन अंबेडकर का कोई प्रभाव नहीं दिखता। आपकी पूरी पुस्तक में कहीं भी अंबेडकर का जिक्र तक नहीं आता है। आपके यहाँ अंबेडकर के विचार और व्यक्तित्व से इतनी दूरी क्यों है? जबकि अंबेडकर के विचार और व्यक्तित्व का प्रभाव पूरे देश में दिखाई पड़ रहा था, क्या ऐसे समय में भी आपके क्षेत्र में अंबेडकर और उनके विचार नहीं पहुंचे थे? इस संदर्भ में थोड़ा स्पष्ट करें।

**प्रो. वाई.बी. सत्यनारायण :** आपका यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। देखिए, मेरी पुस्तक में अंबेडकर का जिक्र न आने के तीन बड़े कारण हैं। एक तो दलितों का एक्वीजेशन और इंटरनलाइजेशन हुआ है। दरअसल सवर्णों ने दलितों के दिमाग में यह बिठा दिया कि यदि वे सवर्णों से किसी तरह का प्रश्न भी करेंगे तो उन्हें पाप लगेगा। 'सिन एण्ड पनिशमेंट' की बात दलितों के दिमाग में बैठ गई। एक बार मैं अपने नाना के साथ जा रहा था, सामने से जमींदार आता हुआ दिखाई दिया तो मेरे नाना ने चप्पल उतार दी, टरबन निकाल दिया। आँखें झुका लीं और कहा, "मैं आपका गुलाम हूँ मालिक"। जब जमींदार चला गया तो मैंने उनसे पूछा आपने ऐसा क्यों किया? तो उन्होंने कहा यदि मैं उनके सामने चप्पल पहनता आँखों से आँखें मिलाता तो मुझे ही पाप लगता। मेरी पहली तीनों पीढ़ियों में यह पापबोध था, जो उनके दिमाग में जातिवादी हिन्दुओं ने बिठाया था।

मेरी पुस्तक में अंबेडकर का जिक्र न आने का दूसरा बड़ा कारण यह है कि हमारे यहाँ निजाम सरकार थी। यहाँ अंबेडकर की एंट्री बहुत लेट हुई। मेरे पुरखों को पता ही नहीं था कि अंबेडकर कौन हैं? लेकिन उनके अवचेतन में अंबेडकर का सपना था, गुलामी से मुक्ति का सपना था।

तीसरा कारण यह है कि हमारी पहली तीन पीढ़ियाँ, जो कि रेलवे में नौकरी करती थीं, उनकी रेलवे कॉलोनी की अपनी एक दुनिया थी, जिसका बाहरी दुनिया से विशेष संपर्क नहीं था। रेलवे ही उनकी दुनिया थी। हमारे पुरखों को रेलवे की यह दुनिया भी इसलिए मिल पाई क्योंकि जातिवादी हिन्दू इस नौकरी में नहीं आते थे। रेलवे की नौकरी में बहुत जोखिम भी था, जंगल में रेलवे लाइन बिछाते हुए जंगली जानवरों का खतरा था। रेलवे के कठोर श्रम वाले और जोखिमपूर्ण कामों के लिए केवल अतिशूद्र और अछूत ही उपलब्ध थे। इन रेलवे कॉलोनियों में अतिशूद्र भी अछूतों से छुआछूत करते थे। उस समय तेलंगाना में पानी की कमी थी। रेलवे का पानी का टैंकर आता था। पानी भरते हुए शूद्र के घड़े से अछूत का घड़ा भी टच हो जाता था तो वह शूद्र पानी को फेंक देता था घड़ा फोड़ देता था। छुआछूत की यही स्थिति है, आप कहीं भी जाइए यह मौजूद है। आप यदि चमार पैदा हुए हैं तो मरते हुए भी चमार ही होंगे। ये जातिवाद दूर नहीं होगा क्योंकि ये जातिवादी नहीं सुधरेंगे।

रेलवे के आने से दलितों का विकास इसलिए भी हुआ कि उन्हें नकद मजदूरी मिलने लगी थी, जबकि बंधुआ मजदूरों को अनाज आदि, जो कि अपर्याप्त होता, से काम चलाना पड़ता था। रेलवे में नकद पैसे मिलने पर वे अपने बच्चों को स्कूल भी भेजने लगे। यहाँ आने पर दलितों को ऐसा परिवेश मिल पाया कि जिसमें वे अपना विकास कर सकें। रेलवे में एंग्लों इण्डियन कर्मचारी अंग्रेजी में बात करते थे, जिससे दलित भी अंग्रेजी सीखने को प्रेरित हुए। उन्हें अंग्रेजी से अपना नौकरी पाने का सपना सच होता दिखाई दिया। वे सोचते थे कि यदि उनके बच्चे अंग्रेजी सीख लेंगे तो उन्हें भी रेलवे में बड़े पद पर नौकर मिल सकेगी, मेरी तरह चपरासी की नौकरी नहीं करनी पड़ेगी। आज की पीढ़ी के उन दलितों का विकास संभव हो सका है, जिसके पिता या दादा के पास रोजगार था, भले ही उनके दादा ने चपरासी की नौकरी की हो।

रेलवे के आने से दलितों का विकास तो हुआ लेकिन गुलामी और छुआछूत की मानसिकता वहाँ भी बनी रही। अपने पिता के जीवन से एक उदाहरण मैंने इस पुस्तक में भी लिखा है–मेरे पिता बालैय्या रेलवे में निम्न श्रेणी के पद पर कार्यरत थे। रेलवे पटरी पर जब कभी कोई पशु गिर जाता और रेल की चपेट में आ जाता तो उसे उठाने के लिए मेरे पिता को बुलाया जाता, जबकि यह काम उनका नहीं था। लेकिन हमारी जाति के कारण मेरे पिता से रेलवे की नौकरी में भी पशु उठाने का काम कराया जाता। जैसे कि मैं प्रोफेसर हूँ, सामने से आता हुआ व्यक्ति मुझे नमस्ते सर, कहता है लेकिन थोड़ा आगे निकलते ही कहता है–साला चमार है, एक चमार को भी नमस्ते करनी पड़ जाती है। इस जातिवादी मानसिकता का क्या करें, रोहित का केस तो आपको मालूम है ही।

**डॉ. मुकेश मानस :** सत्यनारायण जी के कहने का सार यही है कि जाति नहीं जाती। आप कहीं भी चले जाइए, आपकी जाति आपसे चिपकी रहती है। आप किसी भी नौकरी में हों लेकिन आपको आपकी जाति के कारण वे काम करने पड़ते हैं, जो आपकी नौकरी का हिस्सा नहीं हैं। शहरों और अकादमिक जगत में जातिवाद अत्यंत सूक्ष्म और खतरनाक होता है। कई बार यह आपको दिखाई नहीं देता, सिर्फ उसको महसूस होता है, जिसके साथ घटित होता है। जैसे कोई मुझे कहता है कि अरे तुम तो दलित नहीं लगते। दलित दिखने के लिए मुझे क्या करना पड़ेगा? मैं फटे-पुराने कपड़े ओर टूटी चप्पलें पहनकर चलूँ? साफ़ सुथरा न रहूँ? क्या दलित अच्छा नहीं कर सकता? क्या दलित को प्रतिभाशाली नहीं होना चाहिए? दलित के पास कार नहीं होनी चाहिए?

कहने का तात्पर्य यह कि शहरों में जातिवाद महीन और जटिल है। अकादमिक जगत में जातिवाद सबसे भयंकर है। इसी मानसिकता के चलते लंबे समय तक दलित साहित्य को स्वीकार ही नहीं किया गया। हम इस विषय पर और लंबी बात कर सकते हैं लेकिन मुझे लगता है कि पहले विद्यार्थियों के प्रश्नों को भी चर्चा में शामिल कर लिया जाए। विद्यार्थी अथवा हमारे अध्यापक साथी अपनी जिज्ञासाएँ, सवाल और टिप्पिणयां साझा कर सकते हैं।

**डॉ. राजेश कुमार :** मुकेश मानस जी ने अकादमिक जगत के जातिवाद का जिक्र किया। आप और हम अकादमिक जगत के अंग हैं, दृष्टा मात्र नहीं हैं। अत: कहा जा सकता है कि अकादमिक जगत के जातिवाद के संदर्भ में डॉ. मुकेश मानस की टिप्पणी स्वानुभूतिजन्य है, प्रमाणिक है। अकादमिक जगत के जातिवाद को हम ज्यादा खतरनाक इसलिए भी मानते हैं कि इसके साथ हमारा संबंध प्रत्यक्ष है, हम इसके घेरे में आते हैं। गाँव-देहात में होने वाले जातीय उत्पीड़न की पकड़ से हम लोग दूर निकल चुके हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि गाँव-देहात का जातिवाद कम खतरनाक है। अकादमिक जगत के जातिवाद को अधिक खतरनाक मानने का एक कारण यह भी है कि अकादमिक दुनिया से हमने बड़ी अपेक्षाएँ कर ली हैं, इस अकादमिक जगत में प्रवेश के समय हम इसे प्रगतिशील एवं क्रांतिकारी दुनिया मानने की भूल कर बैठते हैं। इस अकादमिक जगत का हिस्सा बनने के बाद हमारा मोहभंग होता है और यह समझ पाते हैं कि हमारे समाज में सबसे अधिक पाखंड अकादमिक जगत में है। अकादमिक जगत में व्याप्त जातिवाद को यह पाखंड अधिक खतरनाक बनाता है। शायद यही कारण है कि अकादमिक जगत का जातिवाद सबको नजर नहीं आता, सतह पर दिखाई नहीं देता। इस जातिवाद को प्रगतिशीलता, सद्भाव, अखण्डता और विश्व बंधुत्व के पाखंड से ढक दिया जाता है।

**जयप्रकाश कर्दम :** जातिवाद के विभिन्न रूपों पर अभी लंबी चर्चा हो सकती है, कई पहलू हैं अभी जिन पर बात करने की जरूरत है, विद्यार्थियों के प्रश्नों पर भी बात करनी है, इससे पहले कि हम विद्यार्थियों के प्रश्न शामिल करें। मैं सत्यनारायण जी की पुस्तक के संदर्भ को कन्क्लुड करते हुए उनसे एक प्रश्न और पूछना चाहूँगा।

सत्यनारायण जी की पुस्तक में दलितों के उत्थान की जो कहानी दर्ज है, उसमें रेलवे की बहुत बड़ी भूमिका है। रेलवे ने दलितों के सामाजिक आर्थिक जीवन की बेहतरी में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। दूसरी चीज यह कि भारत में रेलवे के विकास में और रेलवे के जरिए भारत की अर्थव्यवास्था के विकास में दलितों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

सत्यनारायण जी, मेरी जिज्ञासा यह है कि आपका परिवार सौ साल पहले माइग्रेट हो गया। लेकिन आपके जो दूसरे कुटुम्बी होंगे वे अभी भी उसी गाँव में होंगे? क्या उनके साथ अपका अभी भी कोई रिश्ता बनता है? क्या उनके साथ आपका जुड़ाव है?

**प्रो. वाई.बी. सत्यनारायण :** हमारे गाँव का नाम 'बंगपल्ली' है, करीमनगर जिला में आता है। पिछले दिनों में वारंगल गया, वहाँ अपने गाँव का 'बंधु' मिला। वह बोला आप कई पीढ़ी पहले गाँव छोड़कर चले गए। आपकी किताब अमेरिका तक चली गई, क्या इस बीच आपको अपना गाँव याद नहीं आया। मैं उसका प्रश्न सुनकर बहुत परेशान हुआ। मैंने उसे कहा भाई, मैं गाँव आ रहा हूँ। जब मैं बी.एस.सी. स्नातक का छात्र था, तब मेरे पिताजी मुझे एक बार गाँव ले गए थ। अब गाँव गया तो बहुत कुछ बदल चुका था। मैं गाँव जाकर यंग जेनरेशन से मिला। उसे एड्रेस किया, उसे प्रॉमिस किया कि मैं हर छ: महीने पर गाँव आऊँगा, अपने गाँव आऊँगा।

इसी प्रकार बाबा साहब अंबेडकर ने आगरा में एक इमोशनल स्पीच दी थी। उन्होंने कहा था कि दलितों के इस संघर्ष में जिन दलितों का उत्थान हुआ है, वे बहुत स्वार्थी हो गए। आरक्षण के

सहारे जिन्हें नौकरी मिली वे अपने गाँव लौटकर नहीं जाते। दलित कर्मचारियों ने अपने समाज और बाबा साहब अंबेडकर को बहुत निराश किया। जो दलित कर्मचारी अपने समाज के लिए प्रेरणा बन सकते थे, उन्होंने अपने गाँव और समाज से रिश्ता ही तोड़ लिया। यही कारण है कि जब मुझसे मेरे बंधुगण ने पूछा कि आपको अपना गाँव याद नहीं आता, तो यह सुनकर मैं बहुत परेशान हो गया था।

**डॉ. राजेश कुमार :** चर्चा बहुत गंभीर, इमोशनल और चिंतनपरक हो गई है। आप लोगों के भीतर भी एक बेचैनी, कुछ कहने की बेचैनी और जिज्ञासा साफ नजर आ रही है। अतः हम इस मंच को औपचारिक रूप से सबके लिए खोल रहे हैं। मंच ही नहीं हम विषय को भी खोल रहे हैं। चर्चा का विषय केवल आत्मकथा 'मेरे पिता बालैय्या' तक सीमित नहीं है आप लेखकों से उनकी रचना प्रक्रिया और विमर्श पर भी बातचीत कर सकते हैं।

**सरोज ( छात्र, बी.ए. ऑनर्स, हिन्दी, तृतीय वर्ष ) :** मेरा प्रश्न जयप्रकाश कर्दम सर से है। सर, दलित साहित्य में स्वानुभूति और सहानुभूति का प्रश्न आता है। क्या गैर-दलित रचनाकार दलित साहित्य नहीं लिख सकता?

**जयप्रकाश कर्दम :** कोई भी रचनाकार किसी भी विषय पर लिख सकता है लेकिन यह भी देखना होगा कि उसने क्या लिख है? क्या उसकी रचना दलित पाठक को उसकी अशंकाओं से मुक्त कर पाती है? यदि स्वयं उसने अथवा उसके बंधु बांधवों ने किसी दलित का उत्पीड़न किया है अथवा जातीय भेदभाव किया है। तो क्या वह अपनी रचना में इस बात को स्वीकारता है? क्या उसकी रचना में इस बात का अफसोस मिलता है कि वह अथवा उसके बंधु-बांधव दलित समाज के अपराधी हैं? क्या किसी गैरदलित रचनाकार की कोई ऐसी रचना आप लोगों ने पढ़ी है, जिसमें जातीय भेदभाव और उत्पीड़न के लिए पश्चाताप मिलता हो अथवा दलित समाज से माफी मांगी गई हो?

हम तो कहते हैं कि एक जमींदार अपनी आत्मकथा लिखे तो वह उसमें बताए कि उसके किसान और मजदूरों के साथ कैसे संबंध थे? उसने किस-किस तरह से उनका शोषण किया। पुरोहित यह जरूर बताए कि कितने अछूतों के बच्चों का नामकरण किया? दलितों के नाम विकृत क्यों होते रहें? किसी भी गैरदलित रचनाकार की दलित विषयक रचना का मूल्यांकन इस आधार पर हो कि वह रचना दलित पाठक को आश्वस्त कर पाती है या नहीं?

स्वानुभूति और सहानुभूति का अंतर इस उदाहरण से समझिए, मान लीजिए कोई व्यक्ति कुएँ में गिर गया है। वह मद्द के लिए चिल्ला रहा है। उसी समय वहाँ आपका लेखक भी पहुँचता है। वह कुएँ में गिरे हुए व्यक्ति को देखकर करूणा का गीत गाता है, हाय-हाय करता है। लेकिन कुएँ में गिरे हुए व्यक्ति को बाहर निकालने के लिए कुछ नहीं करता। न कहीं से रस्सा लाता है और उसे कुएँ से निकालने के लिए अन्य लोगों को भी मदद के लिए नहीं बुलाता है। तो आप ही बताइए कि कुएँ में गिरे हुए उस व्यक्ति के लिए उसके सहानुभूतिजन्य गीतों अथवा सहानुभूति का क्या अर्थ है?

(सहानुभूति बनाम स्वानुभूति प्रश्न का उत्तर जयप्रकाश कर्दम जी ने अपनी कविता 'दलित वेश में' के माध्यम से कुछ इस प्रकार दिया है–संपादन मण्डल)

इधर-उधर की बात न हांको
सीधी बात बताओ तुम
दलित वेश में इस बस्ती में
किस मंशा से आए तुम।
सहानुभूति यदि दलितों से
तुमको है सच्ची, स्वागत है
पर कहना नहीं काफी होगा
कुछ करके भी दिखलाओ तुम।
दलितों का शोषण-उत्पीड़न
जो करते आए रहे सदा
अपने जाति-जनों से कितना
लड़े हो यह बतलाओ तुम।
आवाज यदि दलितों के संग
तुम अपनी नहीं मिला सकते
यह झूंठ-मूठ की हमदर्दी
यूं हमको न दिखलाओ तुम।
सहानुभूति के संवेदन का
राग बहुत आलाप चुके
स्वानुभूति के ताप को यूं
इस तरह नहीं झुठलाओ तुम।
मगरमच्छ के अश्रुओं का
सच जान चुके हैं हम सारा
अपनेपन का खेल न खेलो
अपनापन दिखलाओ तुम।

**गौरव : ( छात्र बी.ए. आनर्स हिन्दी, तृतीय वर्ष ):** सर क्या आपको नहीं लगता कि दलित साहित्य जातिवाद फैलाता है? दलित साहित्य आरक्षण को बढ़ाता है?

**जयप्रकाश कर्दम :** दलित साहित्य जातिवाद को रेखांकित करता है, यह उन पर्दों को हटा देता है, जिनके पीछे जातिवादी विसंगतियों को छुपाने का प्रयास किया जाता हैं। दलित साहित्य हमारे समाज के जातिवादी चेहरे को उजागर करता है। दलित विमर्श आरक्षण को नहीं बल्कि विविधता को बढ़ावा देता है। यह ब्रह्ममणवाद और पूँजी के आरक्षण पर ब्रेक लगाता है।

**ज्योति ( छात्रा, बी.ए. ऑनर्स हिन्दी, तृतीय वर्ष ) :** मेरा प्रश्न कर्दम सर से है, उनकी कहानी 'नो बार' के संदर्भ में। सर,

आपको नो बार लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली? कहानी का मुख्य पात्र क्या स्वयं आप ही हैं?

**जयप्रकाश कर्दम :** कोई भी लेखक केवल आपबीती नहीं लिखता, वह जगबीती भी लिखता है। सभी कहानियाँ उसके निजी जीवन की घटनाओं से ही नहीं निकलतीं, उसके आसपास की घटनाओं से भी निकलती हैं। मैंने कई ऐसी कहानियाँ लिखी हैं, जिनका संबंध मेरे मित्रों और परिचितों के जीवन की घटनाओं से है। लेकिन यह तय है कि ये सभी कहानियाँ वास्तविक जीवन की कहानियाँ हैं। ये हमारे समाज की सच्चाई हैं। दलित साहित्य में कहानी-उपन्यासों के थीम चुनने के लिए कल्पना के संसार में जाने की जरूरत नहीं पड़ती। दलित साहित्य में वास्तविक जीवन से थीम चुना जाता है, कल्पना इसमें रचनात्मकता के रंग भरती है। 'नो बार' कहानी भी इसी वास्तविक जीवन की कहानी है।

**डॉ. पूनम सिंह ( प्राध्यापिका, अंग्रेजी विभाग, सत्यवती महाविद्यालय ) :** मैं पूनम सिंह, इसी कॉलेज के अंग्रेजी विभाग में पढ़ाती हूँ, मेरा रिसर्च भी दलित-विषयक है। मैंने उत्तर प्रदेश के कुछ दलित लेखकों की आत्मकथाएँ पढ़ी हैं। ये आत्मकथाएँ दलितों का सांस्कृतिक इतिहास भी हैं। इन आत्मकथाओं से जुड़े दो बिंदुओं को रेखांकित करना चाहती हूँ। एक तो यह कि इनके टाइटल में ही 'अनटचेबल' होने की आडेंटिटी जुड़ी हुई है। लेखक इस आइडेंटिटी से स्वयं को अलगाता नहीं है बल्कि प्रोफाउंडली इस आइडेंटिटी को अपनाता है। ऐसा क्यों है? मेरा दूसरा प्रश्न यह है कि दलित लेखकों ने आत्मकथा के केन्द्र में पुरुष समाज को रखा है, अपने समाज की स्त्रियों को स्थान क्यों नहीं दिया है?

**पो. वाई.वी.सत्यनारायण :** दलित आत्मकथाओं में दलित समाज की स्त्रियों की स्थित बहुत अच्छी नहीं है क्योंकि हमारे समाज में दलित स्त्रियों को शिक्षा और समानता के अवसर नहीं मिले हैं। स्त्री-विमर्श और स्त्री आंदोलन का नेतृत्व सर्वण स्त्रियों और अभिजात्य वर्ग की स्त्रियों के हाथ में है। समाज में दलित स्त्रियों की स्थिति सबसे कमजोर है, इसका अर्थ यह नहीं कि अपने परिवार और समाज को आत्मनिर्भर बनाने में उनका कोई योगदान नहीं है? दलित स्त्री स्वाभिमानी है। मैंने अपनी आत्मकथा में अपनी दादी के विषय में लिखा है। उन्होंने सवर्ण समाज के विरुद्ध प्रतिरोध किया था। उनका प्रतिरोध मेरे लिए प्रेरणा बना।

**डॉ. राजेश कुमार :** पूनम जी के इस प्रश्न के संदर्भ में मेरा मानना है कि दलित आत्मकथाओं में दलित स्त्री पूरी तरह अनुपस्थित नहीं है अंतर बस इतना है कि दलित पुरुषों की आत्मकथाओं में स्त्रियों (दलित और सवर्ण दोनों) का 'सेल्फ' अभिव्यक्त नहीं हो पाया है। एक महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि पहली पीढ़ी के दलित लेखकों के परिवारों की स्त्रियों की उपस्थिति के साथ अपमानबोध का भाव अधिक गहरा हो जाता है क्योंकि सवर्ण समाज ने उनकी स्त्रियों को निरंतर अपमानित किया और उनका उत्पीड़न किया। अतः दलित पुरुषों के साहित्य में दलित स्त्री की उपस्थिति एक उत्पीड़ित स्त्री के रूप में है। जबकि सवर्ण स्त्री की सबसे खराब छवि दलित पुरुषों के लेखन में ही है। शायद दलित लेखकों को यह लगता है कि वे अपने लेखन में सवर्ण स्त्री को अपमानित करके दलित समाज की स्त्रियों के अपमान और उत्पीड़न का बदला ले रहे हैं।

दलित पुरुषों के लेखन में स्त्रियों के चरित्र-चित्रण पर स्वयं दलित लेखिकाओं ने भी आपत्ति की है। (इस विवाद को लेकर दलित रचनाकार भी दो गुटों में बँट चुके हैं।) साहित्य में अब दलित स्त्रियों की आवाज भी मुखर होने लगी है। वे स्वयं अपने विषय में लिख रही हैं, अब वे दलित लेखकों के भरोसे नहीं हैं। सवर्ण लेखिकाओं पर भी दलित लेखिकाओं को विश्वास नहीं। उनकी कहानी और आत्मकथाओं में सवर्ण स्त्रियाँ सवर्ण पुरुषों से अधिक जातिवादी और अमानवीय हैं।

पूनम जी के दूसरे प्रश्न के संदर्भ में बस इतना ही कहूँगा कि अस्मितामूलक विमर्श और दलित आंदलनों ने दलित लेखकों को इतना आत्मविश्वास दिया है कि वे अनटचेबल होने की आइडेंटिटी को छुपाएँ नहीं बल्कि इसे गर्व से स्वीकारें और इतिहास में भी अपने समुदाय के कदमों के निशान खोजें।

**नोट :** हमें खेद है कि इस चर्चा के अंतिम चरण की पूरी रिकार्डिंग उपलब्ध न होने के कारण यह दुर्लभ संवाद इतना ही प्रकाशित हो पा रहा है।

**प्रस्तुति : डॉ. राजेश कुमार**
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, सत्यवती महाविद्यालय, दि.वि.वि.

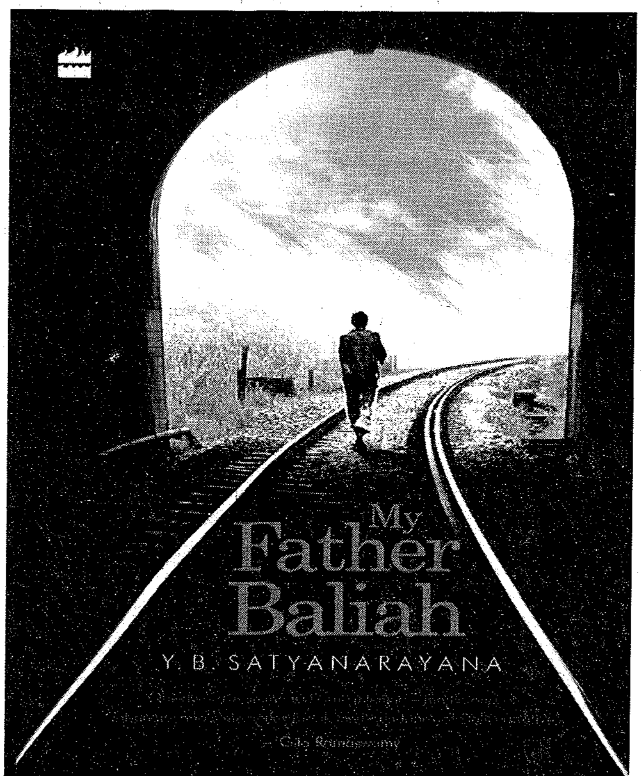

# लेखक से मुलाकात एवं चर्चा

## प्रतिबिम्ब

### हिन्दी साहित्य सभा, सत्यवती कॉलेज

**वरिष्ठ कवि अशोक वाजपेयी से प्रो. गोपेश्वर सिंह की बातचीत**

**विषय : आज के समय में कविता**

**प्रो. गोपेश्वर सिंह ( पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दि.वि.वि. ) :** अशोक वाजपेयी एक ऐसे कवि और लेखक, जिनकी किताबें मैं खरीदकर पढ़ता रहा हूँ। (दरअसल हिन्दी समाज में किताबें खरीदकर पढ़ने का चलन नहीं है, जिन लेखकों की किताबें पाठक खरीदते हैं, वे लेखक या तो किसी पाठ्यक्रम में पढ़ाए जाते हैं अथवा सचमुच महत्वपूर्ण और चर्चित होते हैं। अशोक वाजपेयी निश्चित रूप से अपने समय के महत्वपूर्ण और बहुचर्चित रचनाकार हैं। प्रो. गोपेश्वर सिंह जी के पहले वाक्य का यही आशय है–सम्पादक) मैं उनके काव्य संग्रह अपने साथ लेकर भी आया हूँ कि जब चर्चा के दौरान काव्य-पाठ का कार्यक्रम हो तो अशोक जी के सामने उनके काव्य संग्रह हों और वे अपनी पंसद की और हमारी पंसद की भी कविताएँ सुनाएँ।

मित्रों, हिन्दी आलोचना और हिन्दी समाज ने अशोक वाजपेयी की छवि कुछ इस तरह बना दी थी कि मानों वह समकालीन कविता के मुख्य परिदृश्य का प्रतिपक्ष हों। हमारे विद्यार्थी जीवन में अशोक जी की कुछ ऐसी छाप गढ़ी गई कि वह साहित्य की तथाकथित जनपक्षधारा का विरोधी स्वर है। एक जमाना था जब अज्ञेय पर सबसे अधिक आक्रमण होते थे। फिर आलोचकों में नामवर सिंह पर होने लगे। नामवर सिंह के बाद यदि सबसे ज्यादा आक्रमण किसी ने झेले हैं, तो वे हैं अशोक वाजपेयी। तब अशोक जी भोपाल में रहते थे और उस समय भोपाल घराने (साहित्यिक घराना) की गतिविधियाँ हिन्दी आलोचना और हिन्दी साहित्य की सुर्खियां होती थी, आलोचना का विषय होती थीं। मुझे अशोक वाजपेयी इसलिए भी प्रिय हुए कि तत्कालीन एवं तथाकथित जनपक्षधर धारा के सामानांतर वह अकेले भी चलते रहे। उन्होंने काव्य संबंधी अपनी समझ और धारणाओं को किसी के दबाव में नहीं बदला, कविता की परिभाषा को अन्य ढंग से प्रस्तुत नहीं किया, अपनी कविता का स्वर नहीं बदला।...

मुझे ऐसे लोग ज्यादा अच्छे लगते हैं, जो तरह तरह के आरोपों के बावजूद अपनी जगह पर खड़े रहते हैं। अशोक वाजपेयी अपनी आस्था के साथ, कविता के प्रति अपनी समझ और जिद के साथ खड़े रहे।

एक ऐसा जिद्दी कवि, आलोचक और आयोजक जो कविता के साथ लगातार खड़ा है, जो कवियों को और कविता को निरंतर प्रेम करता है और सम्मान करता है। समाज में उनकी जगह के लिए संघर्ष करता है। ऐसे कवि को आपके बीच पाकर मैं प्रसन्न महसूस कर रहा हूँ। आपके इस आयोजन के लिए आपको साधुवाद देता हूँ कि आपने श्री अशोक वाजपेयी को आमंत्रित किया, वह भी किसी राजनीतिक समीकरण की परवाह किए बिना। आपके हिन्दी विभाग के कुछ शिक्षक जब मुझसे मिले और इस तरह के कार्यक्रम की रूपरेखा मेरे सामने रखी तो मैंने कहा, आप लोग अशोक वाजपेयी को बुलाइये। आप लोग चाहते थे कि कविता पर बातचीत हो। मैंने कहा बातचीत अपनी जगह है लेकिन किसी कवि के लिए सबसे बड़ा सम्मान यह कि उसकी कविताएँ सुनी जाएँ। अपनी कविता के माध्यम से कवि अपने पाठकों, समाज और साहित्य से जो संवाद करता है, वही उसका वास्तविक संवाद है। गद्य में जो बातचीत होती है, साक्षात्कार होते हैं उनका भी अपना महत्व है लेकिन कविताएँ सुने बिना कवि से संवाद अधूरा ही है। एक कवि को आपके सामने प्रस्तुत करने के लिए जो भूमिका हो सकती है, जो जिज्ञासा हो सकती है, वह आपके सामने मैं रखूँगा।

मेरे सामने सबसे पहला सवाल यह आया कि जब भी कोई कवि कविताएँ लिखना शुरू करता है तो उस समय उसके आस-पास क्या घटित हो रहा है और उसकी कविता में क्या घटित हो रहा है? अशोक वाजपेयी का पहला संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' मेरे ख्याल से 1966 में आया और उसमें कविताएँ 1962-63-64-65 के वर्षों की शामिल हैं। अर्थात् अशोक वाजपेयी ने 1960 के बाद कविता लिखना शुरू की थी।.......

ये दौर नई कविता के उत्कर्ष का दौर था। नई कविता का सूरज हिन्दी कविता के आकाश के मध्याह्न में जब चमक रहा था तब का यह दौर है। नई कविता के निकष और प्रतिमानों के संबंध में उस समय काफी बहस हो रही थी। विजयदेवनारायण साही, जो कवि और आलोचक दोनों थे, ने एक इतिहास प्रसिद्ध लेख लिखा 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' जो उनके संग्रह 'छठवाँ दशक' में संकलित है। इस लेख में कविता का निकष अथवा प्रतिमान 'लघुमानव' अर्थात् कॉमनमैंन को प्रतिपादित किया गया है। 'लघुमानव' के निकष पर सबसे बड़े कवि हैं

'अज्ञेय'। दूसरे एक आलोचक हैं नामवर सिंह जिनकी किताब 'कविता के नये प्रतिमान' के विषय में आप जानते है। "व्यंग्य, विडम्बना और तनाव" ये नई कविता के निकष नामवर सिंह लेकर आए। 'व्यंग्य, बिडम्बना और तनाव के आधार पर नामवर जी ने मुक्तिबोध को काव्यनायक बनाया। तीसरे आलोचक रामविलास शर्मा ने "यथार्थवाद को काव्य का निकष बनाया। इस आधार पर अज्ञेय को काव्य का खलनायक बना दिया। यथार्थवाद की इस कसौटी पर केदारनाथ अग्रवाल सबसे बड़े कवि हैं। मुक्तिबोध सिजोफ्रेनिक हैं और अज्ञेय नवरहस्यवाद के कवि हैं।

ये तीन मान्य आलोचक नई कविता के और तीन तरह के निकष और तीन तरह के निष्कर्ष। ये काफी भ्रम पैदा करते हैं। यह वही दौर है, जब नई कविता के निकष तय हो रहे थे और दूसरी तरफ नई कविता का सूर्य मध्याह्न में चमक रहा था अर्थात् रचनाशीलता और आलोचना दोनो दिशाओं में कवि और आलोचक दोनों सक्रिय थे। अशोक वाजपेयी जैसा कवि उसी समय शुरूआत कर रहा था।

स्वाभाविक रूप से किसी भी कवि के लिए शुरूआत एक चुनौती होती है। इसी से जुड़ी हुई मेरी एक जिज्ञासा है कि जब एक किशोरवय कवि (अशोक वाजपेयी) लिखना शुरू कर रहा है, 'शहर अब भी संभावना है' लिख रहा है, वह अपने शहर, समाज और कविता में संभावनाएँ तलाश रहा है, उसके सामने इस तरह के निकष कितने मददगार थे? नई कविता के ये निकष उस कविता को समझने में कितने सहायक थे अथवा कितने बाधक थे? अशोक वाजपेयी जी 1960 के दशक के बाद कविता संबंधी इन बहसों और रचनात्मकता को किस रूप में देखते हैं? इसी परिदृश्य के बीच से पैदा होने वाले कवि (अशोक वाजपेयी) के कविता संबंधी निकष और मूल्य क्या थे और अब क्या हैं?

**अशोक वाजपेयी :** इतना लंबा प्रश्न है तो इसका उत्तर भी इतना ही लंबा होना चाहिए, लेकिन मैं इतना लंबा उत्तर नहीं दूंगा। मैंने जब लिखना शुरू किया तो मैं अकाल परिपक्व था, मेरे दोस्त मेरी उम्र के थे ही नहीं। एक प्रेमिका के अलावा सभी मित्र मुझसे बड़ी उम्र के थे। हमारा छोटा शहर था, सागर। सागर शहर में हम चार-पाँच लोगों ने नई कविता की शुरूआत की। उन दिनों हम मुक्तिबोध को जानते तो थे लेकिन वे इतने बड़े कवि नहीं थे, प्रतिष्ठित कवि तो अज्ञेय ही थे, शमशेर बहादुर सिंह भी महत्वपूर्ण कवि थे। हम युवा लोग इन कवियों को पढ़ते थे। मैंने वैश्विक कविता एकदम आरंभ में ही पढ़ना शुरू कर दी थी। वास्तव में मैं हिन्दी का छात्र नहीं रहा। नवीं कक्षा के बाद मैंने विषय के रूप में हिन्दी नहीं पढ़ी। इसलिए मेरी जानकारी भी आधी-अधूरी और अधकचरी सी है। लेकिन मैंने उन दिनों संस्कृत और अंग्रेजी पढ़ी, बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए.किया। विश्व कविता पढ़ने का चस्का तो लग ही गया था, हिन्दी में अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह को पढ़ते थे, 'नई कविता' और 'निकष' नामक पत्रिकाओं को भी पढ़ते थे। लेकिन तब तक यह स्पष्ट नहीं था कि नई कविता और तथा कथित प्रगतिवादी कविता में कोई वैर है, कोई अंतर्विरोध है।

उसी दौर में हम कुछ विद्यार्थियों ने मिलकर एक पत्रिका निकाली, नाम था 'संवेद'। हम में से हिन्दी का वैध छात्र सिर्फ राजा दुबे थे। बाकी हम सब लोग इधर उधर के थे। संवेद के कुल दो अंक निकले लेकिन उसमें अज्ञेय मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह, नागार्जुन, भवानी प्रसाद मिश्र, कमलेश्वर, गिरिजा कुमार माथुर, प्रभाकर माचवे इत्यादि सभी महत्वपूर्ण रचनाकारों ने रचनाएँ दीं। यह इसके बावजूद संभव हुआ जबकि सागर विश्वविद्यालय की कीर्ति उस समय आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के कारण नई कविता के अजातशत्रु के रूप में थी। उस समय के बड़े रचनाकार हमारे साथ आए। हमारे साथ आते समय शायद उन्होंने सोचा हो कि ये कुछ अज्ञात-कुल-शील लोग हिम्मत कर रहे हैं तो इनका साथ दिया जाये। दरअसल इस बात को गंभीरता से दर्ज नहीं किया गया है कि नई कविता का संघर्ष छोटे-छोटे शहरों में भी लड़ा जा रहा था।

मैं सरकारी स्कूल में पढ़ता था। जैसा कि सरकारी स्कूल फटीचर होते हैं, यह स्कूल भी फटीचर था। मैं भी फटीचर ही था, यह अलग बात है कि बाद में मुझे मेधावी पाया गया। मैंने कविताएँ लिखना शुरू कर दिया था। हालांकि कवि होना कोई अच्छी बात नहीं मानी जाती थी। यदि आप कवि हैं तो लोग आपको संदेह की नजर से देखते थे कि आपमें या तो प्रतिभा की कमी है या अक्ल की कमी है या दोनों की कमी है। तभी मैंने यह दृढ़ निश्चय किया था कि मैं अक्ल के पैमानों पर खरा उतरूँगा लेकिन जिद करके कवि बना रहूँगा। यदि कोई कवि चाहे तो आसानी से आई.ए.एस. वगैरह में भी जा सकता है कोई बड़ी बात नहीं है। तो बहरहाल हम लोगों ने नंददुलारे वाजपेयी वगैरह के रहते हुऐ प्रयत्न किया, संवेद निकाली और रचनात्मक मोर्चा भी संभाला।

मेरे पहले कविता संग्रह में पहली कविता 1957 ई. की है। अर्थात् मैं सोलह वर्ष का था, तब तक मैंने करीब डेढ़ सौ कविताएँ लिख ली थीं। उनमें से कुछ कविताएँ बहुत खराब थीं। हालांकि कुछ लोग कहते हैं कि मैं अभी तक वैसी ही खराब कविताएँ लिख रहा हूँ। बहरहाल उस समय की कुछ कविताएँ मुझे खराब लगीं, लेकिन ये सभी कविताएँ उस समय की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छप चुकी थीं। लेकिन जब ज्ञानपीठ ने कविताओं की पाण्डुलिपि माँगी तो मैंने डेढ़ वर्ष का समय लगाया और लगभग सौ से अधिक कविताएँ खारिज कर दीं। अर्थात् एक तरह का आलोचनात्मक स्वभाव अपनी कविता के अंदर ही घर कर गया। जैसा कि आप जानते ही होंगे, आपको कविता पढ़ाने वाले अध्यापक बताते ही होंगे कि नई कविता सिर्फ कविता नहीं थी,

यह एक आलोचनात्मक दृष्टि थी। यह समाज को दुनिया को, जो हो रहा है उसको, जो नहीं हो रहा है उसको, अपने आसपास को आलोचनात्मक दृष्टि से देखती थे। लेकिन दूसरी तरफ हम युवा रचनाकार थे, जो प्रेम कर रहे थे, प्रेम में निराश हो रहे थे, दुनिया को एक अचरज की, विस्मय की नजर से देख रहे थे। अर्थात आलोचनात्मक दृष्टि भी कोई पैदाईशी नहीं थी, यह अनुभवों के समृद्ध होने और रचना प्रक्रिया के साथ विकसित हो रही थी। मुझे तब बहुत आश्चर्य होता है, जब कोई इस तरह बयान देता हैं कि जैसे उन्होंने गर्भ में ही दुनिया को बदलने का संघर्ष शुरू कर दिया था। मतलब उनके लिए जीवन में कुछ स्वाभाविक अथवा उत्साहित करने को था ही नहीं। जैसे कि सारी उत्सुकता भी समाप्त हो गई हो। मेरे ख्याल से ऐसा कुछ होता नहीं है, यदि होगा तो बहुत अस्वाभाविक होगा।

मैंने उस समय जो किया अथवा लिखा, उसके संदर्भ में मुझे यह पता ही नहीं था कि इनमें से क्या नई कविता के निकष हैं, क्या नहीं है? रामविलास शर्मा और नामवरजी की पुस्तकें भी बाद (1978 ई. एवं 1968) में आई। तब तक मुझे जितना अच्छा या बुरा कवि होना था, मैं हो चुका था। बल्कि मैंने उस आलोचनात्मक संग्राम में हिस्सा लेना शुरू कर दिया था। नए-नए लोगों को पढ़ने का चस्का पहले ही लगा गया था।

जब मेरा जनेऊ संस्कार हो रहा था, तब मेरे अध्यापक ने मुझे एक काव्य संग्रह दिया था-'हरी घास पर क्षण भर'। उसकी बहुत ही सुन्दर छपाई थी और आवरण खादी का था। संग्रह पाकर मैं चकित हुआ कि हरी घास पर भी कविता हो सकती है क्या? जबकि मैं घर से स्कूल जाते हुए रास्ते में पड़ने वाली घास पर बहुत तेज दौड़ता था कि कहीं साँप न निकल आए। 'हरी घास पर क्षण भर' पढ़ने के बाद मैंने महसूस किया कि अपने आस-पास की मामूली दिखने वाली चीजों पर भी कविता हो सकती है। उसके बाद मैंने जीवन भर कोशिश की कि मेरे पड़ोस में, मेरे परिवेश में जो कुछ भी है, उसे कविता में ला सकूँ। इसमें कितना सफल हुआ, कहना मुश्किल है।

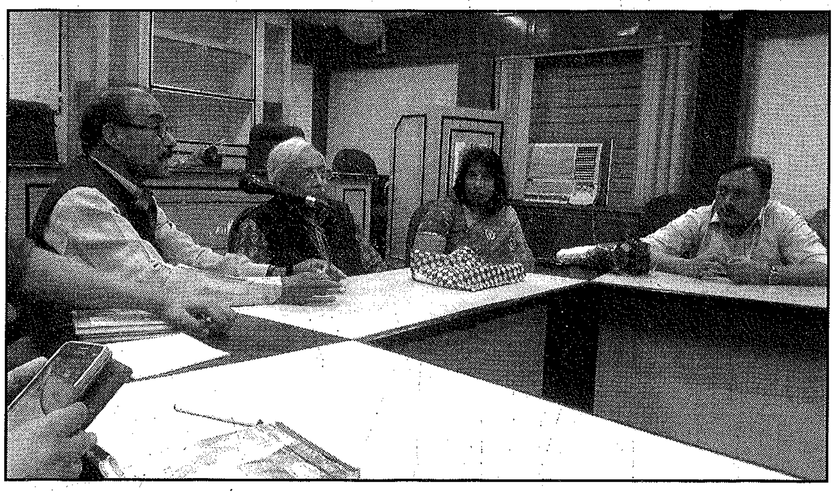

उन दिनों हमने अपने विश्वविद्यालय के छात्र संघ के उद्घाटन के लिए अज्ञेय को बुलाया। हमारे आचार्यों की नजर में इससे बड़ा पापाचार हो नहीं सकता था। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी शहर छोड़कर बाहर चले गये। एक बार मुक्तिबोध भी आए। मैंने शमशेर बहादुर सिंह को बुलाने की भी कोशिश की थी लेकिन इस कोशिश में सफ़ल नहीं हुआ। जब मेरी सत्रह वर्ष की उम्र थी, इलाहाबाद में एक साहित्य सम्मेलन हुआ। इसमें महादेवी वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, भगवत शरण उपाध्याय और नागार्जुन सरीखे रचनाकार शामिल हुए। इस सम्मेलन में शामिल होने वाला मैं सबसे कम उम्र का रचनाकार था, मुझे यह पता नहीं लगता यदि अमृत राय ने अपने लेख में इस बात का जिक्र न किया होता। नागार्जुन मेरे पास ही बैठे थे, कोई उनके ऑटोग्राफ लेने आया तो उन्होंने कहा, "बुजुर्गों को छाती पर नहीं, सामने की आराम कुर्सी पर बिठाओ।" तो आप लोगों ने भी मुझे सामने की आराम कुर्सी पर तो नहीं बिठाया है लेकिन मैं आपकी छाती पर भी नहीं बैठूंगा। उसी दौरान हमने पहली बार रेणु को देखा, उनका मैला आँचल खूब चर्चित हो रहा था। मैं थोड़ा दिखाऊ छात्र था। दिखाउ इन अर्थों में कि बड़ी-बड़ी किताबें हाथ में लेकर चलना, पाब्लो नेरूदा, रिल्के की कविताएँ और इलियट आदि को मैं हाथ में लेकर चलता था इसका एक कारण तो यह था कि मैं हिन्दी वालों को थोड़ा चिढ़ाता था, दूसरा यह कि इससे रौब तो जमता ही था।

इस दौरान तीन बातें मेरे मन में घुस गईं, एक तो यह कि मेरी शिक्षा दीक्षा भले ही अंग्रेजी में हो रही है लेकिन मुझे लिखना मातृभाषा में ही है, क्योंकि हम मातृभाषा में ही सबसे अधिक मानवीय हो सकते हैं। यूँ तो मैं अंग्रेजों के बाप की तरह अंग्रेजी बोल सकता हूँ, लिख सकता हूँ लेकिन अपनी मातृभाषा को छोड़कर अंग्रेजी में लिखने का विकल्प कभी मेरे ख्याल में नहीं आया। न तो मेरा बचपन अंग्रेजी में बीता और ना ही मैं सपने अंग्रेजी में देखता हूँ।

दूसरी बात यह कि केवल कवि होना काफी नहीं होगा क्योंकि आपका पाठ-कुपाठ लोग करते रहेंगे, (गोपेश्वर जी, यह बात मैं आपके लिए नहीं कह रहा हूँ।) उन दिनों तो कुपाठ की हद थी। उस समय कविता के साथ आलोचना लिखना भी जरूरी हो गया था। अज्ञेय ने तो इसे आपद् धर्म कहा।......

तीसरी बात मुझे यह समझ में आई कि हिन्दी में आयोजन की भी महिमा है। आपने कविता, आलोचना, कहानी लिखी या

पत्रिका निकाली लेकिन बिना आयोजन के यह सब अनदेखा और बेपढ़ा रह सकता है। 47 वर्ष की आयु में जब मुक्तिबोध की मृत्यु हुई तो उस समय तक उनका एक भी संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ था। मैं इस दुर्घटना से बहुत व्यथित हुआ। इसका मेरे ऊपर इतना गहरा असर हुआ कि मैंने तय किया कि यदि मुझे जीवन में अवसर मिला तो मैं युवा कवियों के लिए कुछ करूँगा। कुछ अवसर तो मिलते हैं, कुछ आपको खोंखिया कर झपटने पड़ते हैं। जब मैं प्रशासनिक सेवा में भर्ती हुआ तो मैंने 'पहचान' नाम की साहित्यिक पत्रिका निकाली, जो विशुद्ध रूप से अपने पैसे से चलाई। इसके चार अंकों में पन्द्रह युवा कवियों के पहले कविता संग्रह छपे। जिनमें विनोद कुमार शुक्ल, विष्णु खरे, विष्णु नागर, ज्ञानेन्द्रपति इत्यादि उस समय के सभी महत्वपूर्ण कवि थे। मैंने उस समय दृढ़ निश्चय किया था कि साहित्य सेवा से मिला पैसा साहित्य पर ही खर्च करूँगा।

कविता के लिए अपने समाज में अपनी जगह बनाना कठिन होता गया। इसका एक कारण तो यह था कि विश्वविद्यालयों में पढ़ने से कविता की जो समझ बनती थी, वह समकलीन कविता की ओर जाने से रोकती थी। दूसरी तरफ ये कवि सम्मेलन और फिल्मी गीत इत्यादि थे। मैं कई बार यह दोहरा चुका हूँ कि हमारी कविता की समझ को दो चीजों ने कुप्रभावित किया। है ये दो चीज हैं, फिल्मी गाना और खबर। फिल्मी गाना और खबर में समता क्या है? दोनों अपना सच पहले ही प्रकट कर देते हैं, उसके आगे सिर्फ विवरण भर होता है। उदाहरण के लिए खबर कहती है कि फलाँ संगठन ने फलाँ क्रिकेट टीम को भारत आने से रोका। इस खबर ने अपना सच पहले बयाँ कर दिया, अब इसके आगे विवरण भर है। इसी तरह फिल्मी गाना है–'हम तुम एक कमरे में बंद हो और चाबी खो जाए।' इस गाने में पहली पक्ति में ही अपना सच कह दिया कि प्रेमी–प्रेमिका एक कमरे में बंद हो गए हैं। इसके आगे गाने में इसी सच का खुलासा मात्र है। कविता अपने सच को इस तरह बयां नहीं करती। कई बार तो स्वयं कवि को ही पता नहीं होता कि उसका सच क्या है? कवि भी कविता की रचना प्रक्रिया में अपना सच थोड़ा बहुत जान पाता है। **यदि पहले से फोर्मूलेट सच को कविता में लाने की कोशिश की जाए तो निश्चित रूप से खराब कविता होगी। कविता एक तरह का भाषा में भटकना है और भटकते हुए हो सकता है कि कोई सच आपके हाथ लग जाए। ज्यादा संभावना इस बात की है कि आपको सच का आभास मिले, सच न मिले। दूसरी बात यह कि कविता का सच अधूरा सच है, यह पूरा ही तब होता है जब सहृदय पाठक उसमें अपना सच मिला दे। इसीलिए एक ही कविता की कई व्याख्याएँ हो सकती हैं। व्याख्याकार का अपना सच है, जो कविता में मिलाता है। अच्छे कवि वे होते हैं, जो ईमानदारी से सच को कहने की कोशिश करते हैं और अपने सच पर संदेह भी करते हैं। क्योंकि सच किसी की बपौती तो है नहीं। राजनेता, खिलाड़ी, अभिनेता या अपराधी सबको अपना सच पता है। और ये लोग हर बात को अंतिम सच की तरह कहते हैं। इन्हें अपनी किसी मान्यता पर कभी कोई संदेह नहीं होता। कोई धर्मोपदेशक या राजनेता कभी अपनी किसी मान्यता पर संदेह करेगा? कभी नहीं। क्या नरेन्द्र मोदी कभी संदेहग्रस्त हो सकते हैं? संदेहग्रस्त तो हम जैसे रचनाकार ही होंगे।**

पिछले साठ–सत्तर वर्षों का साहित्य साधारण की महिमा का साहित्य है। हमारे साहित्य में साधारण जिंदगी पहले बहुत ही मुश्किल से आती थी, रूपक बनकर आती थी लेकिन सीधे–सीधे बहुत कम आती थी। अब के साहित्य में महानायक नहीं बल्कि साधारण जिंदगी के साधारण पात्र आते हैं। होरी, गोबर, घीसू, माधव या शेखर जैसे साधारण पात्रों को किसी महानायकत्व अथवा मिथकीय आश्वासन की जरूरत नहीं है। दुर्भाग्य यह है कि आज का साहित्य जिस साधारण मनुष्य का लेखा जोखा है उसी साधारण मनुष्य की समझ इसे ग्रहण नहीं कर रही है।

आज का समय कुछ ऐसा है कि हम कुछ भी कहें और देशद्रोही हों जाएँ, बल्कि हम तो परम देशद्रोही कहलाएँगे। हमारे मित्र श्रीकांत वर्मा की एक कविता है–"मूर्खों, देश को खोकर ही तो पाई थी मैंने कविता।" इधर यकायक जो देशप्रेम जागा है, यह देश का प्रेम नहीं है बल्कि एक बड़ी जनसंख्या से नफरत का नाम ही देश प्रेम है।

**प्रो. गोपेश्वर सिंह :** मित्रो वाजपेयी जी के इस वक्तव्य का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि आज का साहित्य साधारण की महिमा का साहित्य है। **अशोक जी की काव्य यात्रा के विकास पर नजर डालें तो आप पाएँगे कि इधर के दिनों में उनकी कविता में सामाजिकता का निषेध बढ़ा है, सामाजिक आग्रह का निषेध बढ़ा है। मेरे ख्याल से यह निषेध ठीक ही बढ़ा है क्योंकि सामाजिकता के आग्रह को ही कविता मान लिया गया है। यथार्थवाद का ऐसा आतंक कायम हो गया है कि ऐसा लगता है इसके अलावा कविता का कोई दूसरा विषय है ही नहीं। एक कवि के रूप में अशोक वाजपेयी 'शहर अब भी संभावना है' से शुरू करके 'एक पतंग अनंत में' तक पहुँचे हैं।** अशोक जी पर ऐसे रिसर्च भी हुए हैं, जिनमें उन्हें रहस्यवादी सिद्ध कर दिया गया है। जब मैं हैदराबाद में था तो एक उड़िया छात्र ने उन पर रिसर्च किया था, 'सीताकांत महापात्र और अशोक वाजपेयी की कविता में रहस्यभावना : एक तुलनात्मक अध्ययन' इसी संदर्भ में अशोक जी से मेरा प्रश्न है कि वे स्वयं अपनी काव्ययात्रा को किस रूप में देखते हैं? क्या आपकी काव्ययात्रा सामाजिकता से अलग किसी अनंत की ओर है? कविता का अनन्त क्या है, जो आपको आकर्षित करता है। आप इस पर रौशनी डालें, ताकि हम आपके परिप्रेक्ष्य को सही अर्थ में देख सकें।

**अशोक वाजपेयी :** मैंने शुरू से ही सामाजिकता का कोई बना बनाया एक रूप स्वीकार नहीं किया। हमारे समय में सामाजिकता का आग्रह जैसे-जैसे बढ़ता गया, वैसे-वैसे साहित्य में समाज की रूचि घटती गई। जब सामाजिकता का आग्रह इतना अधिक नहीं था, तब समाज साहित्य में कहीं अधिक रूचि लेता था। देखिए जीवन तो हमें एक एक ही मिला है, इसी में सब कुछ करना है। हिन्दी समाज में सामाजिकता का जो बहुत संकरा दायरा बन गया है, उससे कुछ भिन्न करने की कोशिश मैंने की। अर्थात् **मैंने वैकल्पिक सामाजिकता विकसित करने की कोशिश की। यह कितना विकसित हुई, मैं नहीं जानता।**

कविता का अनन्त क्या है? दरअसल मनुष्य ने कई अद्‌भुत आविष्कार किए। इनमें से एक आविष्कार है अध्यात्म। अर्थात् स्वयं से वृहत्तर सच्चाई का एहसास। यह बोध गिलहरी और कुत्तों को नहीं होता, सिर्फ मनुष्य को होता है। दूसरा क्रांतिकारी आविष्कार है ईश्वर। मुझे आस्था का वरदान नहीं मिला है। मेरी कविता में ईश्वर से लगातार झगड़ा है। मैं अपनी कविता में अक्सर देवताओं और दुष्टों को साथ रखता रहा हूँ। तीसरा आविष्कार है अमूर्तन। अर्थात् आकृतिमूलक से स्वयं को मुक्त करने की स्थिति। चौथा आविष्कार है–**भाषा मनुष्य का सबसे क्रान्तिकारी आविष्कार है।**

**भाषा के बिना यह पृथ्वी हमारे लिए पृथ्वी ही बनी रहती। इस पृथ्वी को हमने संसार में बदला है भाषा के जरिए। भाषा बुनियादी क्रान्ति है, इसके बरक्स तमाम क्रांतियाँ फुटनोट है।** भाषा के बिना न ज्ञान संभव है, न विज्ञान संभव है। भाषा के बिना संसार ही संभव नहीं है। 'शब्द' (भाषा) पर मेरा अटल विश्वास रहा है यद्यपि उसकी अपर्याप्तता का बोध भी मुझे है। कोई भी सत्य भाषा द्वारा पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं हो सकता क्योंकि सत्य भाषा से बड़ा होता है। भाषा पूरा प्रयास करती है कि वह पूरे संसार को अपने भीतर समो ले लेकिन संसार बार बार भाषा की पकड़ से फिसलता जाता है। कविता भाषा की ताकत को बहुगुणित कर देती है। यदि आप कविता को ठहरकर पढ़ें तो शायद उसके सत्य को पकड़ सकें। विडम्बना यह है कि हम सरसरी तौर पर पढ़ते हैं, सरसरी तौर पर पढ़ते हुए समझ आ जाए तो ठीक अन्यथा सब कुछ को व्यर्थ मान लेते हैं। फिल्मी गानों और फटाफट खबरों के माध्यम से ही हम सबकुछ को समझ लेने की जल्दी में हैं। कविता के साथ भी हम फिल्मी गानों और खबर सुपरफास्ट वाला रवैया अपनाते हैं।

**हमारे समय में दो चीजें संकट में हैं-आश्चर्य और रहस्य।** विज्ञान ने सब कुछ को जान लेने का दंभ भरा तो 'रहस्य' संकटग्रस्त हो गया। अप्रत्याशित घटनाओं और स्थितियों के प्रति हम अनुकूलित होते चले गये, हमारी संवेदनाएँ कुंद होती गईं तो 'अचरच' संकटग्रस्त हो गया। सुबह से शाम तक इलैक्ट्रानिक मीडिया पर नेता अभिनेता, खिलाड़ी, धर्मगुरु और अपराधी निरंतर झूठ बोलते हैं और हम इन सबको मनमुदित होकर देखते-सुनते रहते हैं **लेकिन हमें अचरज नहीं होता। बड़े से बड़ा आदमी चोरी चकारी करे हमें अचरज नहीं होता। छोटे से छोटे किसी दलित की हत्या कर दी जाएं, महिलाओं का उत्पीड़न हो, बलात्कार हो हमें अचरज नहीं होता। मंत्री मुख्यमंत्री घोटाले करें, पाखंड करें, प्रोफेसर अपनी कक्षाएँ न पढ़ाएँ, अनैतिक कार्यों में संलिप्त रहें लेकिन हमें अचरज नहीं होता।** बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में रहस्य और अचरज सबसे ज्यादा संकट में है। **हमारे समय का साहित्य प्रतिपक्ष है क्योंकि इसमें अभी भी रहस्य और अचरज भाव की संभावना बची हुई है।**

**प्रो. गोपेश्वर सिंह :** अशोक जी, आपकी एक किताब है-'कविता का जनपद' सामान्य रूप से तो जनपद कुछ इस तरह परिभाषित है कि केदारनाथ का जनपद बुदेलखंड, नागार्जुन का मिथिलांचल, त्रिलोचन का अवध है......।

आपने जिस जनपद की कल्पना की है, वह क्या है? जब आपकी किताब आई थी तो एक समीक्षक ने आपकी किताब के जनपद के संदर्भ में कहा था, यह जनपद नहीं बल्कि कविता का गोपद है अर्थात् गाय के खुर जितना छोटा है। इस अतिवादी व्याख्या की ओर मैं आपको नहीं ले जाना चाहता लेकिन विद्यार्थियों और अपनी समझ के लिए जानना चाहता हूँ कि यह जनपद क्या है?

**अशोक वाजपेयी :** देखिए मैंने कुछ शब्दों को नई अर्थाभा देने की कोशिश की है। इनमें एक शब्द था 'स्वराज' दूसरा था 'जनपद'। 'स्वराज' की कल्पना हमने एक वैचारिक संघर्ष के अंतर्गत की है। दरअसल साहित्य को विचार में घटाने की प्रवृत्ति आम है कि साहित्य के पीछे विचार क्या है? अक्सर ये विचार साहित्य के अपने उपजे हुए विचार नहीं है। **अर्थात साहित्य विचार और विचारधाराओं का उपनिवेश है। मेरा आग्रह यह था कि साहित्य समाज पर या समय पर या अपने पर स्वतंत्र रूप से विचार करने की विधा है।** उदाहरण के लिए गाँधी युग में प्रसाद दृष्टि, निराला दृष्टि और प्रेमचंद दृष्टि भी थीं, इन सबको गांधी दृष्टि में विलीन नहीं कर सकते। चूंकि साहित्य अपने समाज, अपने समय या स्वयं अपने आप पर स्वतंत्र रूप से विचार करता है। अतः उसका अपना स्वराज है।

'जनपद' शब्द को एक बार उस परिप्रेक्ष्य में देखें, जिसमें मैथिली शरण गुप्त राष्ट्रकवि थे। दिनकर जी को उपराष्ट्र कवि कहा जाता था, बच्चन जी को परराष्ट्र कवि, धर्मवीर भारती जी को 'अंधा युग' के कारण धृतराष्ट्र कवि, प्रभाकर माचवे को महाराष्ट्र कवि और भवानी प्रसाद मिश्र को सौराष्ट्र कवि कहा जाता था। दूसरी तरफ कवियों को उनके क्षेत्र मिथिला, बुंदेलखंड और अवध आदि के साथ जोड़कर देखा जाता था। मेरा मानना है

कि कवियों के संबंध में स्थान का महत्व है। मेरे मामले मे भी बुंदेलखंड का महत्व है। मेरे जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा बुंदेलखंड में बीता है। यह मेरी कविताओं में बोलता है। छत्तीसगढ़ श्रीकांत वर्मा की कविताओं में बोलता है। लेकिन साहित्य इन भौगोलिक क्षेत्रों के अलावा अपने लिए एक बड़ी भूमि अर्जित करता है या विकसित करता है। यदि कोई कवि भौगोलिक क्षेत्र का ही होकर रह जाए, नागार्जुन मिथिला के होकर रह जाएँ तो हम उन्हें क्यों पढ़ेंग? तो किसी भी तरह की संकीर्णता का, वैचारिक कट्टरता का मैं अपने साहित्य, आलोचना, संपादन और संस्थाओं में घोर विरोधी रहा हूँ। और मैंने अपने आलोचकों और निंदकों को भी सहर्ष आमंत्रित किया है। इस मामले में मेरा रिकार्ड बेहतर है। मुश्किल क्या है, मुश्किल यह है कि हमें अपना विचार तो विचार लगता है बाकी सब अविचार या कुविचार लगता है। संभवत: इनमें कुछ कुविचार होते भी हैं। लेकिन साहित्य जिस व्यापक भूमि का निर्माण करता है, उसमें एक साथ कई विचार संभव हैं, कई दृष्टियाँ संभव हैं।

अभी मेरी एक आलोचनात्मक पुस्तक प्रकाशित हुई है–'कविता के तीन दरवाजे', राजकमल ने छापी है। यह अज्ञेय, मुक्तिबोध और शमशेर पर केन्द्रित है। अज्ञेय को मार्क्स विरोधी कवि और मुक्तिबोध को मार्क्सवादी कहा जाता है, शमशेर मार्क्सवाद और सौंदर्यबोध के कवि है। लेकिन तीनों बड़े कवि है। वैचारिक रूप से इनकी दृष्टियाँ अलग-अलग हैं। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि हम जिस विचार दृष्टि से असहमत हैं, उसमें भी बड़े कवि हो सकते हैं। मार्क्सवाद और गैर मार्क्सवाद में बड़े लेखक हुए हैं और ये सब मिलकर साहित्य का जनपद बनाते हैं।

**प्रो. गोपेश्वर सिंह :** मित्रो, आज की बातचीत का हमारा एक उद्देश्य यह भी है कि हम अशोक जी के विविध काव्य रूपों और उनके विचारों की विविधता को समझ सकें। इस क्रम में मेरे एक दो प्रश्न और हैं, फिर आपके प्रश्न भी होंगे, टिप्पणियाँ होंगी। अशोक जी, आपने प्रेम और देह की, शृंगार की बहुत अच्छी कविताएँ लिखी हैं, वह भी ऐसे समय में जब प्रेम बहुत ही वायवीय ढंग से चित्रित किया जा रहा है।

आपकी कविताओं में आपका पास-पड़ोस खूब आता है लेकिन देह भी है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में देह संबंधी सर्वाधिक कविताएँ रीतिकाल में लिखी गईं। लेकिन आप अपने लेखन में रीतिकाल की कविताओं के उदाहरण कम ही लेते हैं। इसकी तुलना में आपको कबीर और तुलसी ज्यादा याद आते हैं। रीतिकाल के कवि आपको याद नहीं आते हैं। जबकि हमारी काव्य परंपरा में बिहारी, देव और घनानंद आदि कवियों ने देह की भव्यता का बड़ा सुंदर चित्रण किया है। आपको अपनी काव्य परंपरा में बिहारी और देव क्यों याद नहीं आते, जबकि आप परंपरा को महत्त्व देते हैं।

उसके शरीर में भर गई सुगंध
जैसे आकाश में नीलिमा
और दूब में हरितमा
अब आश्चर्य की तरह खुला है संसार
और पंखुड़ी की तरह खिलता मुर्झाता रहेगा समय

यह देह के साथ प्रेममय वातावरण का चित्रण, उस मानसिकता का चित्रण है। आप पर एक आलोचक ने आरोप लगाया है कि आप 'देह और गेह' के कवि है। जैसे कि घर-परिवार अथवा देह का कवि होना बहुत बुरी बात हो। ऐसा आरोप लगाने वाला यह वह आलोचक है, जिसका जोर मुक्तिबोध की सामजिकता पर बहुत रहा है। **आपकी कविता में देह की उपस्थिति और आलोचना में बातचीत में रीतिकाल का निषेध है,** आपका यह द्वैत मैं समझ नहीं पाता।

**अशोक वाजपेयी :** देखिए मैं ज्यादा उद्धरण इसलिए नहीं देता हूँ कि मैं हिन्दी का वैध छात्र नहीं रहा। लेकिन ऐसा भी नहीं कि मैंने रीतिकालीन काव्य का उल्लेख नहीं किया। मैंने तो रीतिकाल के बड़े कवि देव की कविता का उपयोग भी किया है, अपनी कविता दिगम्बरा में। देव का वह छन्द तो मुझे याद नहीं लेकिन भाव यह है कि नायिका को उबटन लगाने के लिए नाईन आती है और उसके कपड़े उतारकर उसे दिगम्बर देखती है तो कहती है कि इसके अंगों में इतना ईगुर है, मैं क्या उबटन लगाऊँगी। मुझे लगता है कि **भारत की शृंगार परंपरा विश्व की महान शृंगार परंपरा है। हम अपनी इस परंपरा को क्यों छोड़ें?** लेकिन शृंगार परंपरा के प्रति हमारे यहाँ अजीब स्थिति है। एक तरफ तो कालिदास इस परंपरा के महान कवि हैं, दूसरी तरफ बी.ए. के विद्यार्थी के रूप में हमें कालिदास नहीं पढ़ाया जाता था। इसके पीछे यही धारणा थी कि कालिदास अश्लील कवि हैं। मैंने अपनी कविताओं में कालिदास की उपमाओं का पुनराविष्कार किया है।

हमारी (मेरी) कविता में गालिब भी आते हैं, देव और कालिदास भी आते हैं। कवि जो कुछ भी लिखता है उसका उत्स अथवा सूत्र कहीं न कहीं से तो आता ही है। हर कवि यह चाहता है कि वह किसी भी मायने में इतिहास का पहला कवि हो, लेकिन हर कवि यह भी जानता है कि उससे पहले भी बड़े-बड़े कवि हुए हैं। उन्हें मिटाया नहीं जा सकता। जिस कवि की आवाज में पूर्वज कवि बोलते हैं, उसकी आवाज ज्यादा दूरगामी और टिकाऊ होती हैं, उसकी आवाज पर ध्यान भी ज्यादा जायेगा।

**प्रो. गोपेश्वर सिंह :** हिन्दी में कविता के पाठकों की कमी के संदर्भ में कविता पर यह आरोप सा लगता रहा है कि कविता के पाठकों की कमी के कारण हैं–वैचारिकता का आग्रह, छन्द और लय की समाप्ति और कविता में भावुकता या अनुभूति को काव्यदोष मान लेना। नई कविता के इन्हीं निकषों के संदर्भ में

प्रतिष्ठित आलोचक नलिन विलोचन शर्मा ने मज़ाक-मज़ाक में कहा था।

**दिल तो अब बेकार है, जो कुछ है सो ब्रेन।**
**कविता हुई नकेन है, गाय हुई बकेन॥**

बकेन अर्थात गाढ़ा दूध देने वाली गाय। अर्थात कविता वैचारिक आग्रह से गाढ़ी हो गई है। इसका परिणाम यह हुआ कि अब कविता ज्यादा से ज्यादा पढ़ने की चीज़ रह गई है। न तो इसके उद्धरण व्याख्यानों में आते हैं और न ही यह कविता याद रहती है। तथाकथित जनवादी खेमा हो या तथाकथित कलावादी खेमा, कहीं कोई इन कविताओं के उद्धरण नहीं देता। **दूसरी तरफ उर्दू कविता अपनी ज़मीन पर टिकी रही यानी गज़ल और नज़्म की ज़मीन पर। उर्दू कविता लोकप्रिय भी रही। हमारे समय के शायर भी हमें प्रभावित करते हैं। हिन्दी कविता के छन्दविहीन होने या वैचारिक आग्रह के कारण हिन्दी कविता ने क्या खोया, क्या पाया?** इस पर आप क्या सोचते हैं?

**अशोक वाजपेयी :** इसमें कोई संदेह नहीं कि छन्द को गँवाकर हमने बहुत कुछ गँवाया है। दूसरी तरफ एक तथ्य यह भी है कि लगभग पिछले साठ वर्षों से हिन्दी की महत्वपूर्ण कविता छन्दमुक्त ही लिखी जा रही है। मुक्त छंद हिन्दी का जातीय छन्द है। खड़ी बोली हिन्दी में कविता लिखे जाने का इतिहास सौ साल पुराना है, इसमें से साठ वर्ष मुक्त छन्द ने ले लिए तो मुक्तछन्द को हिन्दी का जातीय छन्द माना जा सकता है।

छन्दविहीन अथवा छन्दमुक्त होने के कारण कविता लयविहीन नहीं हो गई। गद्य और कविता में बुनियादी फ़र्क तो लय का है। छन्द तो लय का एक सुगठित रूप है लेकिन यह अनिवार्य नहीं कि छन्द में ही लय हो। हमारे तमाम बड़े कवियों में छन्द की समझ है, इस्तेमाल भी है। अज्ञेय, मुक्तिबोध और शमशेर सबको यह समझ है।

हिन्दी में विचार की विपन्नता है, फिर भी पता नहीं कविता में यह वैचारिक आग्रह कहाँ से आता है। इनमें कौन से कवि हैं, जिन्हें आप विचारशील कवि कहेंगे?

हिन्दी कविता पर यह व्यर्थ का बोझ कहाँ से आया! कविता तो अपनी लय के माध्यम से ही विचार करती है। अन्यत्र अर्जित विचारों का उपनिवेश बनने से कविता को बचाने की जरूरत है।

विचारों से परहेज नहीं है। लेकिन कविता के लिए किसी लेखक संगठन से मान्यता प्राप्त करने के लिए अथवा बहुत जल्दी अपनी कविता छपाने के लिए इस पर विचारों को थोपना ठीक नहीं है। कविता अपने ढंग से सोचती है।

**प्रो. गोपेश्वर सिंह :** इधर हिन्दी कविता में कुछ ऐसे स्वर उभरे हैं, जो पहले नहीं थे। मसलन स्त्री स्वर, दलित स्वर। इन कविताओं में कविता की जमीन बदली है, काव्य विषय बदला है। इस तरह की कविता से हिन्दी कविता की रचनात्मक जमीन उर्वर हुई है या यूँ ही एक बदलाव के लिए बदलाव है?

**अशोक वाजपेयी :** दरअसल बहुत अरसे बाद हिन्दी साहित्य में स्त्री ने बोलना शुरू किया है, दलित ने बोलना शुरू किया है। साहित्य के लोकतंत्र के भूगोल को बढ़ाने के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण है। बहुत लोग शिकायत करते हैं कि इन कविताओं में वो बात नहीं है। वो बात क्या? वो बात इसमें वो रचाव नहीं है, यह सुगठित नहीं है। इसमें शिल्प का बीहड़पन है। इसमें बीहड़पन है तो क्या ससुरे मुक्तिबोध में शिल्प का कम बीहड़पन है? उस जमाने में पत्रिकाएँ मुक्बिोध की कविताएँ छापती नहीं थीं। इतनी बीहड़ थीं, इतनी लंबी-लंबी चली जा रही हैं, डेढ़ कोस लंबी।

बहुत सारे नये प्रश्न, नई बेचैनियाँ इधर की कविताओं में आई हैं। यह कविता के जनतंत्रीकरण का एक महत्वपूर्ण चरण है। भले ही इनके कुछ स्वर जरूरत से ज्यादा आक्रामक हो जाते हैं। ये स्वर सदियों से दबे हुए थे, अत: इनमें थोड़ी आक्रामता आ भी जाती है तो भी उचित है।

**प्रो. गोपेश्वर सिंह :** बातचीत को आगे बढ़ाने के लिए, एक दिशा देने के लिए और अशोक जी को सुनने के लिए मैंने अपनी कुछ जिज्ञासाएँ आपके बीच रखीं। मेरे ख्याल से यहाँ अध्यापकों और विद्यार्थियों में अशोक जी के पाठक बैठे हैं। उनके भीतर कुछ प्रश्न खुदबुदा रहे होंगे। तो मैं आपकी जिज्ञासाएँ और टिप्पणियाँ आमंत्रित करता हूँ।

**डॉ. विनोद चौबे :** बतौर अध्यापक मेरी एक जिज्ञासा है कि छायावादी कवियों का अपना सौंदर्यबोध था। अज्ञेय आए तो उन्होंने उस सौंदर्यबोध को तोड़ दिया। नये कवियों और आपका सौंदर्यबोध छायावाद के कवियों से किस मायने में अलग है? रचनाप्रक्रिया में आपका सौंदर्यबोध क्या नया जोड़ता है?

**अशोक वाजपेयी :** कवि अशोक वाजपेयी ने क्या जोड़ा, यह तो दूसरे लोग देखें न, आप देखिए। एक तो मुझे यह लगता है कि छायावादियों के तथाकथित सम्मिलित सौंदर्यबोध को प्रश्नांकित करने की जरूरत है। प्रसाद और निराला की दृष्टि में काफी अंतर है। पंत और महादेवी के सौन्दर्यबोध में भी काफी अंतर है। छायावाद के अंदर भी प्रत्येक कवि का अपना विशिष्ट संसार है। मुश्किल क्या है? **दरअसल रचनाकार चीजों को संश्लिष्ट और विशिष्ट बनाता है जबकि आलोचक का काम है कि वह इन्हें सामान्यीकृत करता चले।**

नई कविता हिन्दी कविता की स्थाई क्रांति है। उसके अलग-अलग चरण आते-जाते रहेंगे। छायावाद एक सौंदर्यलोक है। यह संस्कृत और रीतिकाव्य की ध्वनियों से गूँजता हुआ लोक है। अज्ञेय के बाद से यह लोक गायब हो गया। अज्ञेय हिन्दी के

अंतिम संस्कृत कवि हैं। अर्थात् अज्ञेय में संस्कृत काव्य परंपरा का संस्कार है। अज्ञेय, मुक्तिबोध और शमशेर सभी की अपनी सौंदर्यदृष्टि हैं। यदि इन सबको किसी एक दृष्टि में एकीकृत करना हो डंप करना हो, तो मैं यही कहूँगा कि नई कविता साधारण की महिमा का साहित्य है। इस साधारणता में अज्ञेय का अभिजात्य भी है, मुक्तिबोध का आत्मपीड़न और आत्मसंत्र भी है। साधारणता के जितने रूप हो सकते हैं, इसमें है। मैंने पुस्तक में लिखा है–मुक्तिबोध अतिरेक के कवि हैं, अज्ञेय विवेक के कवि हैं और शमशेर अतिरेक और विवेक के बीच ठिठके हुए कवि हैं।

**शोध-छात्र/सुधि पाठक :** सर, आप आज की कविताओं में क्या खूबी देखते हैं और क्या खामी?

**अशोक वाजपेयी :** खूबियां तो जो हैं सो हैं। कमियां.... **एक कमी तो यह है कि आज की कविता को पहले की कविता याद नहीं आती। उसको पढ़ते हुए भी याद नहीं आती, एक जातीय स्मृति का अभाव है। दूसरा है, एक बहुत सतही और निरर्थक सामाजिकता का आग्रह। तीसरा है शिल्प के प्रति लापरवाही। कविता पत्तियों की तरह पेड़ पर नहीं उगती, इसे बनाना पड़ता है, सँवारना पड़ता है। अर्थात् एक हुनर आना चाहिए। चौथा है निजता और पहचान की कमी।** दस बारह रचनाकारों को छोड़ दें तो अन्य रचनाकारों की रचनाएँ पढ़कर लगेगा कि कोई एक ही कवि अलग-अलग नामों से लिख रहा है। ऐसे कई मानवीय संबंध हैं, जिन्हें आज की कविता में संबोधित ही नहीं किया गया है। आज की कविता के संदर्भ में अज्ञेय की बात दोहराई जा सकती है। उन्होंने कहा था कि आज की कविता जरूरत से ज्यादा बोलती है। संयम की कमी है।

**डॉ. प्रवीण :** जैसा कि आपने कहा –कविता भाषा में भटकना है और भाषा में भटकते हुए सत्य मिल जाता है लेकिन यह सत्य आधा होता है। इसमें पाठक का सत्य मिलने पर यह पूरा होता है।

क्या गद्य पर भी यह बात लागू होती है? गद्य, मैं कह रहा हूँ, इस गद्य में आलोचना और रचना दोनों शामिल हैं।

**अशोक वाजपेयी :** मैं कहूँगा कि यह गद्य में भी संभव हो सकना चाहिए। एक फ्रेंच कवि ने गद्य और कविता में अंतर करते हुए कहा, **कविता एक नृत्य की तरह है, जिसमें आप वहीं अपने वृत्त में रहते हैं। गद्य चलने की तरह है, आप एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं, दूसरी से तीसरी जगह।** एक सरोद वादक ने मुझसे कहा था कि एक समय तक तो मैं सरोद बजाता हूँ, उसके बाद सरोद मुझे बजाने लगता है। इसी प्रकार थोड़ी देर तो आप लिखना शुरू करते हैं लेकिन धीरे-धीरे आप किस दिशा में आगे निकल जाते है, स्वयं आपको पता नहीं होता। कई बड़े कथाकारों ने स्वीकारा है कि वे एक चरित्र गढ़ने बैठे थे लेकिन गढ़ने की प्रक्रिया में दूसरा ही चरित्र निर्मित हो गया। पहले से जाने हुए रास्ते पर चलने से साहित्य नहीं बनता। अब यह गद्य हो चाहे कविता।

अंग्रेजी की एक महान कविता है, मिल्टन की 'पैराडाइज लॉस्ट'। मिल्टन ने इस कविता के शुरू में ही कहा है 'जस्टिफाई वेज ऑफ गॉड टू मैन।' यह बहुत दिलचस्प है कि जो कविता ईश्वर के बखान के लिए लिखी जा रही है, शैतान के विरूद्ध लिखी जा रही है, उसमें ईश्वर बहुत कमजोर चरित्र के रूप में सामने आता है, इसमें शैतान ज्यादा प्रबल है। प्रश्न है कि मिल्टन का उद्देश्य क्या था और पहुँचे कहाँ? महाभारत, जिसमें युद्ध का इतना विशद वर्णन है, यह महाकाव्य कहता है कि युद्ध अंततः एक पराजय है। अर्थात् यह साहित्य का भटकाव है। रहगुजर पर बैठे लोग, जिन्हें अपनी मंजिल का पता नहीं है, वो कवि होते हैं।

**शोधार्थी/पाठक :** आपने कई प्रेम कविताएँ लिखी हैं। आपकी प्रेम कविताओं में ऐन्द्रियता बहुत है। जबकि प्रेम जिन सामाजिक संदर्भों में पैदा होता है, उसमें जो तनाव होता है, वह आपकी कविता में नहीं आ पाया है। इसका क्या कारण है?

**अशोक वाजपेयी :** आपके प्रश्न का एक झटपटा उत्तर तो यह हो सकता है कि मैं आपकी प्रेम कविता थोड़े ही लिख रहा हूँ, अपनी लिख रहा हूँ। मुझे ऐसा तनाव और संदर्भ नहीं लगा तो नहीं लगा। आपको मेरी कविता पंसद नहीं आई तो नहीं आई।

सारे सामाजिक संदर्भ कविता के भीतर नहीं होते, ये उसके बाहर भी होते हैं। जिस दौर में प्रेम कविता लिखना प्रतिक्रिया माना जाता है, दोयम दर्जे का काम माना जाता है, उसकी कल्पना करिए। रामविलास शर्मा ने शमशेर बहादुर सिंह की निंदा इसीलिए की है कि वे प्रेम कविताएँ अधिक लिख रहे थे। देखिए जगत प्रेम और निजी प्रेम में एक तनाव तो होता ही है लेकिन जगत प्रेम ज्यादा महान है, ऐसा मेरा कोई आग्रह नहीं है। मैं अपनी प्रेम कविताओं में सामाजिक संदर्भों का उल्लेख नहीं करता तो इसका आशय यह नहीं मैं इन संदर्भों को नहीं जानता।

**डॉ. राजेश कुमार :** जैसा कि आपने अपने वक्तवय में कहा– –नई कविता सिर्फ कविता नहीं है, यह आलोचना भी है।' आज विमर्शों के दौर में कविता में कितनी कविता बची है? इस कविता के साथ आलोचना कैसा व्यवहार करती है? कविता के प्रति आलोचना का कोई सरोकार बचा भी है या नहीं? आलोचना की अपनी जमीन कहाँ ठहरती है?

**अशोक वाजपेयी :** मेरा कहने का तात्पर्य था कि कविता जीवन की आलोचना है। आलोचना का यह तत्व पहले भी कविता में था। ऐसा नहीं है कि इसे नए कवियों ने ही पैदा किया। प्रसाद और निराला की कविता में भी आलोचना के तत्व देख सकते हैं। आलोचना इस अर्थ में नहीं है, जैसी कि नामवर सिंह या गोपेश्वर सिंह लिखते हैं। इधर क्या हुआ है कि आलोचना तत्व के नीचे

कविता का अपना तत्व दब गया है। दरअसल सनसनी का तत्व आलोचना तक सीमित नहीं रहा है। कविता में भी यह प्रवृत्ति बढ़ी है। इस तरह कविता पर आलोचना हावी हो गई है। मुझे नहीं पता ये सब क्या है?

**डॉ. राजेश कुमार : कविता में सनसनी का तत्व विमर्शों के दौर में ही आया है अथवा पहले भी नई कविता में यह तत्व मौजूद था। क्या सनसनी और आलोचना के दबाव में कविता का कवितापन समाप्त हो गया है?**

**अशोक वाजपेयी :** इसको सामान्यीकृत करना उचित नहीं है, हर समय में ज्यादातर कविता खराब लिखी गई है। छायावाद के समय चार हजार कवि रहे होंगे। अब बचे चार ससुरे। राम कुमार वर्मा को भी जोड़ें तो बचे साढ़े चार। बाकी का क्या हुआ? जो कविता का सबसे खराब हिस्सा है, दुर्भाग्य से बहुसंख्यक भी है, को लेकर ही हम सामान्यीकरण करते हैं।

**गोपेश्वर सिंह :** मुझे लगता है कि यह विमर्शों की जो कविता लिखी जा रही है, इसके मूल्यांकन में सबसे बड़ी बाधा स्वयं रचनाकार ही हैं। क्योंकि वह अपनी रचनाओं के विषय में यही सुनना चाहते हैं कि ये निराला और प्रेमचंद की रचनाओं के स्तर की अथवा उससे महान हैं। रचनाकार चाहता है कि आलोचक भी उसके स्वर में स्वर मिलाए। उसकी सभी विमर्शमूलक चिंताओं को अपनी आलोचना में सकारात्मकता के साथ स्थान दे। **लेकिन जब एक आलोचक विमर्शमूलक कविता का मूल्यांकन करेगा तो वह कविता और लेख के अंतर को रेखांकित करेगा। विमर्शमूलक कविता लेख के नजदीक पहुँच रही है। आलोचक आपके विचार की जांच नहीं करता है, वह रचना के मूल स्वरूप की, प्रवृत्ति की अथवा तत्वों की जाँच करता है।** अगर रचनाकार आलोचक को इतनी छूट देने को तैयार हैं तो ही आलोचना के लिए एक बेहतर माहौल बनेगा।

**डॉ. राजेश कुमार :** विमर्शमूलक साहित्य को लेकर एक अविश्वास की स्थिति बनती है। विमर्शकार लेखक आलोचकों पर भरोसा नहीं करता, दूसरी तरफ आलोचकों को विमर्शमूलक साहित्य की अपेक्षाएँ बड़ी और अनुचित लगती हैं। दोनों के एक दूसरे के प्रति पूर्वाग्रह हैं। शायद इसका एक बड़ा कारण यह है कि विमर्शकार लेखक सामाजिकता और अपने अनुभवों पर बल देता है जबकि आलोचक साहित्यिकता और साहित्यशास्त्र को पहली शर्त मानता है।

**शोधछात्रा/पाठक :** इसी से जुड़ा हुआ मेरा सवाल भी है। अभी तक कविता और आलोचना की जो परंपरा थी, वह पुरुषवादी थी–पुरुषवादी कविता और पुरुषवादी आलोचना। अनामिका, गगन गिल, सविता सिंह और कत्यायनी के आने के बाद स्त्रीवादी कविता की भी बात होने लगी है। हिन्दी आलोचना अर्थात् पुरुष आलोचकों ने स्त्री धारा की इस कविता को कितनी जगह दी है? अथवा यह खारिज कर दी गई। यदि जगह दी गई है, तो क्या यह जगह स्त्रीवादी कविता को दी गई अथवा स्त्री की कविता को रिजर्वेशन की तरह जगह दी गई है?

**अशोक वाजपेयी :** देखिए जब हम लोगों ने लिखना शुरू किया था तो हमको भी यही भय सताता था, हमारे सामने भी यह संकट था। हमको कोई जगह नहीं देता। फिर हमने आलोचना में जगह बनाने के लिए स्वयं कोशिश की। हमारी पीढ़ी में मैं, रमेशचन्द्र शाह, नंदकिशोराचार्य, विष्णु खरे, मलयज ये सब मूलतः रचनाकार थे। इन्होंने आलोचना लिखनी शुरू की कि हम पर यदि कोई नहीं लिखता तो कोई बात नहीं। सबसे पहले मैंने विनोद कुमार शुक्ल, धूमिल और कमलेश पर लिखा। तब तक इनमें से दो के पहले कविता संग्रह भी प्रकाशित नहीं हुए थे। अगर आपको लगता है कि स्त्री धारा की कविताओं को आलोचना में जगह नहीं मिल रही तो स्वयं उनको अपनी आलोचना लिखनी चाहिए। समस्या यह है कि आज युवा कविता है, युवा कहानी है, युवा साहित्य है लेकिन युवा आलोचना नहीं है।

**सरोज ( छात्र, बी.ए. ऑनर्स, हिंदी, तृतीय वर्ष ) :** सर, मैं गोपेश्वर सर से प्रश्न पूछना चाहता हूँ।

सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता है –'खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झाँसी वाली रानी थी।' इसके संदर्भ में आलोचकों का कहना है कि कवयित्री ने स्त्री होकर भी एक स्त्री को 'मर्दानी' उपमा दी है। मतलब यह कि लड़ना केवल पुरुषों का काम है। इस संदर्भ में आपकी क्या राय है?

**प्रो. गोपेश्वर सिंह :** इस सब आलोचनाओं से परे मेरा अपना अनुभव है। जब मैं झाँसी गया था, तो वहाँ के किले में एक बड़े पत्थर पर यह कविता खुदी हुई देखी। पूरी की पूरी कविता पत्थर पर लिखी हुई है। मैं बहुत देर तक उस कविता को देखता रहा और यह सोचता रहा कि होंगे बड़े अमर कवि लेकिन जनता ने जो सम्मान इस कवियित्री को दिया है, वह शायद ही किसी को मिला हो। मुक्तिबोध ने सुभद्रा जी पर एक अमर निबंध लिखा 'सुभद्रा जी के सफल होने का रहस्य' सुभद्रा जी के प्रति जनता का प्रेम और मुक्तिबोध का यह निबंध बताता है कि जनमानस में सुभद्रा जी की यह कविता किस हद तक बैठी हुई है। 'मर्दानी' वीरांगना आदि पर मुझे कोई टिप्पणी नहीं करनी।।

**नोट :** हमें खेद है कि इस चर्चा के अंतिम चरण की पूरी रिकार्डिंग उपलब्ध न होने के कारण यह दुर्लभ संवाद इतना ही प्रकाशित हो पा रहा है।

**प्रस्तुति : डॉ. राजेश कुमार**
असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय, दि.वि.वि.

# लेखक से मुलाकात एवं चर्चा
## प्रतिबिम्ब
### हिन्दी साहित्य सभा, सत्यवती कॉलेज

**रमणिका गुप्ता एवं मैत्रेयी पुष्पा से डॉ. राजेश कुमार एवं डॉ. टेकचंद की बातचीत**
**( विषय : अभिव्यक्ति की सीमाएँ और संभावनाएं स्त्री आत्मकथाओं के सन्दर्भ में।)**

**डॉ. मुकेश मानस ( विषय प्रस्तावना )** : हिन्दी विभाग (सत्यवती कॉलेज) द्वारा आयोजित इस कार्यक्रम (लेखक से मुलाकात और चर्चा, विषय : 'अभिव्यक्ति की सीमाएँ और संभावनाएँ : स्त्री आत्मकथाओं के संदर्भ में') में मैं आप सभी का स्वागत करता हूँ। हमारी मुख्य अतिथि रमणिका गुप्ता एवं मैत्रेयी पुष्पा आधुनिक स्त्री लेखन का प्रतिनिधित्व करती हैं। आज की स्त्री ने लिखना शुरू किया तो स्त्री आख्यान की चीजें आनी शुरू हुईं। यह स्वाभाविक है कि जब स्त्री बोलना (लिखना) शुरू करती है तो वह अपना अनुभव, अपनी पीड़ा और अपनी बात बोलती है। जब स्त्री आख्यान आना शुरू हुआ तो काफी हलचल मच गई। अकादमिक दुनिया में नई-नई बहसें होने लगीं। इस सबकी परवाह किये बिना लेखिकाएँ और एक कदम आगे बढ़ गईं। उन्होंने सामाजिक ढाँचे और समाज में स्त्रियों के प्रति वैचारिक निर्मितियों पर सवाल करने शुरू कर दिये। समाज और साहित्य के मूलाधारों पर काबिज पुरुषवादी लेखक-आलोचक अकादमिक दुनिया में लेखिकाओं के हस्तक्षेप को बर्दाश्त नहीं कर पा रहे थे। अंततः उन्होंने स्त्री-आख्यानों तक ही लेखिकाओं को सीमित करने का प्रयास किया। अर्थात कहानी-कवितओं में रोती-बिसूरती स्त्री को तो अकादमिक दुनिया में स्वीकार कर लिया गया लेकिन आलोचना और विमर्श में युद्धरत स्त्री को खारिज करने का निरंतर प्रयास किया गया। हमारी अतिथि मैत्रेयी पुष्पा और रमणिका गुप्ता दोनों ही लेखिकाओं ने पुरुषवादी साहित्य और डिस्कोर्स को चैलेंज किया, चैलेंज ही नहीं बल्कि एक बड़ी लकीर खींची।

मुझे ऐसा लगता है कि मैत्रेयी जी हिन्दी-साहित्य की ऐसी दूसरी लेखक हैं, जिन्होंने अपना एक क्षितिज निर्मित किया है और स्त्री लेखक की सीमाओं के बिऑण्ड चली गई हैं। उनका यह क्षितिज वैश्विक स्त्री का क्षितिज है। मैत्रेयी जी का लेखन दलित, आदिवासी और ग्रामीण समाज का दस्तावेजी जीवन-चित्र है। हम उनके लेखन में इस जीवन को महसूस कर सकते हैं। मुझे नहीं लगता कि रांगेय राघव के पश्चात् किसी अन्य लेखक ने दलित, आदिवासी और ग्रामीण समाज पर इतनी गहराई से लिखा हो।

रमणिका जी ने न सिर्फ स्त्रवादी नज़रिये को फैलाया बल्कि स्त्री की चेतना और स्वायत्तता के प्रश्न को निरंतर अपने लेखन में उठाया। हालांकि मैंने उनकी बहुत ज्यादा रचनाएँ नहीं पढ़ी हैं। इस बार गर्मियों की छुट्टियों में मेरा यही प्रोजेक्ट है कि मुझे मैत्रेयी जी और रमणिका जी सारी रचनाएँ पढ़ लेनी हैं। मैं हर साल गर्मियों की छुट्टियों के लिए ऐसा प्रोजेक्ट बनाता हूँ। रमणिका जी इस बात के लिए हमेशा याद की जाएँगी कि उन्होंने दलित आदिवासी स्त्रियों की रचनात्मकता और उनकी दुनिया को विभिन्न प्रयासों से उजागर किया है। दलित-आदिवासी स्त्रियों की यह दुनिया अभिजात और मध्यवर्गीय स्त्रियों की दुनिया से अलहदा है, उससे भिन्न है। रमणिका जी एक पत्रिका निकालती हैं-'युद्धरत आम आदमी'। मुझे लगता है कि उसमें आम आदमी जितना महत्वपूर्ण है, उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण 'युद्धरत' है। वे आज भी दलित, आदिवासी और स्त्रियों के सरोकारों के लिए युद्धरत हैं।

मैत्रेयी जी 'हिन्दी अकादमी' की अध्यक्ष हैं क्योंकि अकादमी में उपाध्यक्ष ही अध्यक्ष के सारे काम करता है, निर्णय लेता है। अध्यक्ष तो बस नाम का होता है। अतः हम कह सकते हैं कि मैत्रेयी जी अकादमी की अध्यक्ष हैं। यह हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहली बार है कि इसकी अध्यक्ष एक महिला हैं, वो भी एक रचनात्मक महिला हैं। आप देखिए हमारे विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग सबसे अधिक रचनात्मक चीजों से डील करता है और सबसे ग़ैर-रचनात्मक लोग वहाँ पर हैं। मैत्रेयी जी के अकादमी के अध्यक्ष होने पर मैं बहुत उत्साहित हूँ कि सरकारी किस्म की संस्था में रचनात्मक लोगों के आने से इन संस्थाओं का चरित्र भी बदलता है। इस संस्था में होने वाले बदलावों को हम आगामी दिनों में देखेंगे। यहाँ किस-किस तरह के नए डिस्कोर्स की शुरूआत होने वाली है, यह भी देखेंगे।

डॉ. टेकचन्द हमारे उभरते हुए कहानीकार हैं, कहना चाहिए कि वे संभवनाओं से भरे हुए रचनाकार हैं। अपने समय की सभी महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। डॉ. राजेश कुमार चौहान के विषय में आप जानते ही हैं। लेखन के मामले उनकी एक आदत को आप शायद नहीं जानते कि जब वे लिखना शुरू करते हैं तो चिंतन प्रक्रिया में ही लिखते हुए चले जाते हैं। उनका पहला ड्राफ्ट ही फाइनल ड्राफ्ट होता है, वह बहुत लंबा-लंबा लिखते चले जाते हैं। दलित आलोचना के क्षेत्र के खाली स्थान को भरने में डॉ राजेश कुमार चौहान एक बड़ा नाम होगा, मेरा ऐसा विश्वास है।

अब मैं अपने अतिथियों का स्वागत करते हुए आज के विषय

'अभिव्यक्ति की सीमाएँ और संभावनाएँ : स्त्री आत्मकथाओं के संदर्भ में' पर चर्चा के लिए आमंत्रित करता हूँ।

**डॉ. राजेश कुमार :** धन्यवाद मुकेश सर...,

इससे पहले कि प्रश्नों का सिलसिला शुरू हो..., मैं अपना एक अनुभव साझा करना चाहूँगा। अपने विद्यार्थियों से आत्मकथा पर बात करते हुए, उन्हें आत्मकथा के विषय में पढ़ाते हुए, अक्सर मैं दो विरोधाभासी वक्तव्य देता हूँ। पहला, बशीर बद्र के शेअर है–

**"आईना बनकर टहलता हूँ तेरे शहर में,**
**इसलिए लोग पत्थर उठाते हैं।"**

ये आत्मकथाएँ उसी आईने की तरह हैं। आत्मकथाओं का यह आईना समाज के विकृत चेहरे को दिखता है तो आत्मकथाओं पर ये समाज पत्थर उठाएगा ही...। उठाता है...। क्योंकि ये आत्मकथाएँ इस समाज की खुली आलोचना हैं। क्योंकि इस सामाजिक व्यवस्था का खुला विरोध कहीं है तो वो इन आत्मकथाओं में है। लेकिन इसके विपरीत दूसरा स्टेटमैंट भी मैं देता हूँ अपने विद्यार्थियों के बीच, यह टिप्पणी 'नेहरू' की आत्मकथा के उद्धरण के साथ देता हूँ।

'मेरी कहानी' में नेहरू ने कोट किया कि सबसे मुश्किल काम होता है आत्मकथा लिखना। आत्मकथा लिखना बड़ी चुनौती इसलिए है कि आत्मकथा में अगर आत्मालोचन करते हैं तो खुद को अच्छा नहीं लगता और अपनी प्रशंसा करते हैं तो लोगों को अच्छा नहीं लगता। तो जो दूसरी स्थिति है, आत्म-प्रशंसा की यह ज्यादातर आत्मकथाओं में सत्य की अभिव्यक्ति में बाधक बनती है। हम आत्मकथा के पूरे इतिहास से जब परिचित होते हैं तो देखते हैं कि जहाँ आत्म-आलोचन है उन आत्मकथाओं ने एक बड़ी जगह बनाई है। लेकिन जब आत्मकथा में आत्म-प्रशंसा आती है या लेखक आत्म-मुग्धता का शिकार होता है तो वहाँ.... सत्य बाधित होता है। आत्मकथाओं में जितनी गुंजाइश सत्य कहने है की होती है, वहाँ उससे ज्यादा गुंजाइश झूठ को सत्य की तरह कहने की होती है। तो मेरा पहला प्रश्न दोनों लेखिकाओं से हैं। इसी संदर्भ में है, कि क्या आप कभी लिखने की प्रक्रिया में अपने आप पर रीझी हैं। अपनी उपलब्धियों पर, अपने व्यक्तित्व पर, उन तमाम चीजों पर जो कि रीझने का कारण हो सकती हैं? और आप लिखते समय अगर रीझी हैं तो उस रीझने को आपने उसी समय पहचान लिया है या आत्मकथा छपने के बाद आलोचकों के याद दिलाने पर आपने पहचाना कि यहाँ हम रीझ रहे हैं, यह रीझना आत्मकथा में दर्ज हो गया है। अब इसमें संशोधन हो नहीं सकता। अब क्या करें? इस रीझने को जस्टिफाई करें या आत्मालोचन करें?

**रमणिका गुप्ता :** मैंने अपनी आत्मकथा में, जो सत्य है उसको सामने रखा है और मेरा जीवन घटनाओं से ओतप्रोत रहा। एक के बाद एक हादसा, एक के बाद एक दुर्घटना। आत्म प्रतिशोध शब्द मैं इसलिए इस्तेमाल नहीं कर रही कि घटनाओं में हार भी होती है, जीत भी होती है। तो घटनाएँ बोलती हैं–क्या उपलब्धि है, क्या आपकी कमजोरी हैं। तो मैंने उन चीज़ों का जिक्र किया है और कभी आत्म प्रशंसा में मैं खुद नहीं बोली हूँ, घटनाएँ बोलती हैं तो बोलती हैं। जैसे मुझे मार पड़ रही थी और 20,000 लोग जुट गए और तीन दिन के लिए शहर बंद हो गया। अभी इस घटना को याद रख सकते हैं। ये घटना है, तीन दिन तक सारा हजारीबाग बंद हो गया। मैंने दूसरी आत्मकथा लिखी 'आपहुदरी'। मैं कमलादास की आत्मकथा से बहुत प्रभावित हुई। उन्होंने आत्मकथा लेखन के संदर्भ में कहा है कि आत्मकथा लिखते हुए स्वयं को पूरी तरह नंगा कर दो। स्वयं की कमजोरियों को लेखन में छुपाने की नहीं अभिव्यक्त करने की जरूरत है। अत: आपहुदरी में मैंने वही लिखा है, जो मैं हूँ। आपहुदरी का अर्थ है–'एक ऐसी लड़की जो अपने मन का करे।' पंजाब में बुरी लड़की को आपहुदरी कहा जाता है। एक आपहुदरी कितना बड़ा काम कर सकती है, कितना सह सकती है और अन्याय के खिलाफ कितना लड़ सकती है! आत्मकथा पढ़कर आपको यह सब जरूर पता चलेगा। मैंने आत्मकथा में प्रशंसा में शब्द खर्च नहीं किए हैं। इसका शीर्षक ही बदनाम अर्थों में रखा है। हालांकि यह बदनाम अर्थ मैंने नहीं दिए समाज ने दिए हैं। आपहुदरी एक बुरी लड़की है, यह निष्कर्ष भी समाज ने निकाला है, मैंने नहीं।

**मैत्रेयी पुष्पा :** देखिए, मैंने समझा है, मेरा आत्मकथा लिखने का कोई इरादा नहीं था। रमणिका जी बहुत बड़ी-बड़ी जगह रही हैं, राजनितिक जीवन रहा है उनका और बहुत घटनाएं रहीं होंगी। मेरा जीवन ऐसा नहीं रहा। मेरा जीवन ऐसी लड़की का जीवन है, जो बहुत ही मामूली रही है, जो गँवयी होती है, पढ़ती है, गाँव में ही रहती है, कुछ राजनीति नहीं जानती, सामाजिक चक्र की जो जटिल जड़ें हैं, उन्हें भी नहीं जानती। सोचिए कि एक अनजान सी लड़की, जो कैसे एक मामूली औरत में तब्दील होती है, पत्नी बनती है, माँ बनती है ये सब भूमिका निभाती हुई लेखन में आती है। लेखन में भी कब आती है? जब 45 साल की उम्र हो जाती है। बचपन से नहीं लिखा, परिस्थितियाँ नहीं रहीं। मेरे तरह की सैकड़ों हजारों कई तरह की लड़कियाँ रही होंगी जिनको स्थितियाँ नहीं मिलती होंगी, जिसके अन्दर कोई मैत्रेयी पुष्पा रही होगी तो वो नहीं उभर कर आ पाई होगी। जैसे कि पेड़ होते हैं, पौधे होते हैं वे ऋतु, मौसम, जमीन जब मिल जाती है तो उग जाते हैं ऐसा ही कुछ मेरे साथ हुआ। मैंने उपन्यास लिखा, आत्मकथा का कोई विचार नहीं था। बात ऐसी हुई कि मैंने 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में लिखा भी है कि हंस का विशेषांक निकल रहा था–स्त्री विशेषांक, तो उसमें था कि तीन लेखिकाओं के वक्तत्व भी शामिल करने हैं अपने घर को लेकर। अंग्रेजी से दो आ चुके थे अब हिन्दी से कोई नहीं था तो मुझसे कहा गया कि तुम लिख दो। क्या लिख दूँ, परिवार तो है नहीं, केवल माँ है, न भाई न बहन, न पिता, पिता देखे नहीं, भाई थे नहीं, बहन थी नहीं। मैं और माँ बस यही मेरा परिवार। तो मैं क्या लिखूँ और मैंने कहा मेरी माँ से तो मेरी बनती ज्यादा नहीं थी, खटकती रहती थी। माँ पढ़ाना चाहती

थी, मैं पढ़ना नहीं चाहती थी क्योंकि गाँव से पढ़ने में दिक्कतें बहुत आती हैं और गाँव से छः सात किलोमीटर पर स्कूल था। पैदल जाना होता था तो ऐसी पढ़ाई कौन करे। गाँव की लड़कियाँ पानी भर रही हैं, कोई खेत में जा रही है। वो अच्छा लगता था। मेरी एक सहेली बकरी चराती थी तो मुझे वो अच्छा लगता था। मैं सोचती थी मैं बकरी चराऊँगी, सबसे अच्छा वही होता है लेकिन मेरी माँ मुझे पीटती थी। जब मैं बकरी चराने चली जाती थी तो मुझे बकरी नहीं चराने दी गई, जो मेरी हॉबी थी। जो मेरा प्रिय शगल था। लेकिन मुझे पढ़ाया गया और मुझे इतनी यात्रा करवाई गई। तो वो जीवन लिखा है मैंने, आत्मकथा में। यहाँ दलितों की बात भी हुई है। उसमें मेरा जो दोस्त था, वो था एदल्ला... एदल सिंह नाम था। गाँव में होते हैं न जो बड़ी जाति होती हैं। वह एदल सिंह नहीं कहने देतीं। मैं उसे एदल सिंह कहती थी तो लड़के मुझे भी पीट देते थे। वो कहते थे तू इसे एदल सिंह क्यों कहती है? सिंह तो वह लगाते है जो जाट होते हैं, जो ठाकुर होते हैं। ये कैसे लगाएगा। यू तो एदल्ला है।...

चलो एदल्ला था। लेकिन जब मैं यहाँ आई। समझना शुरू किया। लिखना शुरू किया तो मुझे समझ आ गया कि वो दलित की तरह मार खाता था और मैं लड़की की तरह शिकार होती थी। ढेले और पत्ते की कहानी आपने सुनी होगी कि जो आँधी आती है तो ढेला पत्ते पर बैठ जाता है तो पत्ता इधर-उधर उड़ता नहीं है। जब बारिश आती है तो पत्ता ढेले पर बैठ जाता है। मैं और एदल्ला ऐसे ही थे। एक दूसरे की हम मदद करते थे। भागना होता था तो हम साथ भागते थे। तो ये घटना मेरे जीवन में रह गई। आज भी गाँव जाकर एदल्ला से मिल लेती हूँ। (अब तो हम दोनों बूढ़े हो गए) और वो बातें याद आती हैं। तो ये जीवन में छोटी-छोटी घटनाएँ हैं। मेरे जीवन में कोई बड़ी घटना हुई नहीं, बल्कि मैं लिखना भी नहीं चाहती थी इसलिए कि बड़ी घटना तो कुछ हुई नहीं, मुझे कौन पढ़ेगा? जब उन्होंने कहा हंस के लिए लिखो तो मैंने अपनी माँ का और अपना जीवन लिख भी लिया। मैंने कहा कि मैं पढ़ना नहीं चाहती हूँ और मेरी माँ मेरी शादी नहीं करना चाहती थीं। अक्सर कहती–"तू पढ़। तू सरोजनी नायडू बन। तू सुचिता कृपलानी बन।" मैंने कहा, "नहीं, मेरी शादी कर दो। मुझे तो शादी करनी है।" गाँव में बारात आती थी मुझे बड़ा अच्छा लगता था। लेकिन माँ मेरी शादी करना नहीं चाहती थी। जबरदस्ती शादी भी हो गई। लव मैरिज नहीं हुई, अरेंज मैरिज ही हुई। अब

मुझे देख कर सब सोचते होंगे कि मैनें लव मैरिज की होगी। लेकिन कैसे की होगी। नहीं की। जो मैंने लिखा वो ऐसे ही लिख दिया वो सब जगह बड़ा सराहा गया, मुझे ताज्जुब भी बहुत हुआ। 'हंस' में उसकी बड़ी तारीफें आईं। अब राजेन्द्र जी ने कहा दूसरा लिखो तो मैंने दूसरा भी लिख दिया। तो दूसरे की भी बड़ी तारीफ आई बल्कि मुझे याद है कि 'राजकिशोर जी' ने लिखा 'शोक को संगीत बनाने की कला।' अब लगता है कि दुखद था। तब तो लगता था कि जो मिला था वही ठीक था। घर में कोई नहीं था, पिता भी नहीं थे। कोई है ही नहीं। दूसरों के घर रहते-रहते जीवन कटा। दूसरों के घर कैसे रहा जाता है! एक लड़की दूसरों के घर कैसे रहती है! वो भी बातें थी, ऐसे करके आत्मकथा लिख गई। तो ऐसे ही आत्मकथा छप गई, कस्तूरी–कुण्डल बसै। तो उसकी तारीफें हुईं। बहुत हुईं लेकिन अब मैं ये कहना चाहती हूँ कि किसी ने प्रश्न पूछा था–कि आप अपने लिखे पर रीझी या आत्मलोचन किया? 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में कहीं भी एक अच्छी लड़की नहीं थी और अपने मन का किया भी नहीं। लव मैरिज भी कर सकती थी। प्यार भी थोड़ा-थोड़ा हुआ था। क्योंकि एक लड़के ने मुझे प्रेम-पत्र लिखा था। कविता में। वो मुझे बड़ा अच्छा लगा। फिर मुझे लड़का भी अच्छा लगा, तो वो हो सकता था। जब मेरी शादी की बात चली तो मेरी माँ ने कहा कि लाली वो चिठ्ठी वाले लड़के से शादी कर दें? तो मैंने क्या कहा? नहीं, पर उससे तो हो जानी चाहिए थी न। वो तो मना नहीं कर रहा था लेकिन वो मेरा प्रिय दोस्त था। आज भी है। मैं उसे पति नहीं बनाना चाहती थी। क्योंकि उसी दिन नष्ट हो जाता वो प्रेम। दूसरे दिन से, जहाँ से फेरे पड़ते मैं पत्नी वो पति। प्रेम तो पता नहीं कितना रह जाता। बच्चे हो जाते, बस इतना ही होता। तो मैंने वो स्वीकार नहीं किया, जो मुझे बहुत आसानी से मिल रहा था। लड़कियाँ अपनी जान दे देती हैं, मैंने उसे पति नहीं बनाया दोस्त को दोस्त रखा। वो बहुत अच्छी कविता लिखता था। मैं आप लोगों को बताना चाहूँगी, आप स्टूडेंट मेरे सामने बैठे हैं। आप उसी उम्र में हैं, जिसमें मैं थी। और आपको भी प्रेम की ललसा जरूर होगी। आप बताएँ न वो अलग बात है। अलग-अलग बताने लगें एक दूसरे को, वो मैं जानती हूँ। तो वो होता है। प्रेम बहुत अच्छी चीज है, मोहब्बत से अच्छा कोई है ही नहीं। तो वो क्या था कि उसने मुझे कविता में प्रेम पत्र लिखा था। मैंने वो देखा, पढ़ा और अच्छा लगा। फिर सोचा एक लड़का लिख सकता है, तो मैं क्यों नहीं लिख सकती?

वहीं से मैंने कलम पकड़ी। मेरी उम्र 14 साल की थी मैंने कलम पकड़ी। मैं लाइब्रेरी में बैठ-बैठकर पढ़ती थी। तो समझ लीजिए, वहीं से अंकुर फूटा। ऐसा प्रेमी सबको मिले, जो किसी को लेखिका बना दे। मैंने आत्मकथा में सब स्वीकार किया है। अब उसे सही समझिए, गलत समझिए। मेरा रीझना समझिए। इधर नॉवेल छपा तो पहली प्रति उसी को भेजी, जिससे तीस साल से मिली ही नहीं थी। और पता भी नहीं मालूम था। जब गाँव में रहते थे वही पता मालूम था। किताब उसके पास पहुँच गई और चिठ्ठी भी आई। मैंने चिठ्ठी लिखी थी छोटा-सा पुर्जा। तीन बच्चों की माँ थी, पति भी साथ थे और मैं चिठ्ठी भी लिख रही हूँ उसको। चिट्ठी में लिखा था-तुम तो उस लड़की को भूल गए होंगे और मुझे तो तुम बहुत याद हो। और ये मैंने किताब लिखी है जो मेरा मन किया, मैं आपको ही भेज रही हूँ सबसे पहले तो चिठ्ठी तुरंत आई। आप देखिए मोहब्बत कितना जिंदा रहती है कि मैं तुम्हें एक पल के लिए भी नहीं भूला। बल्कि अपनी लड़की का नाम पुष्पा रख दिया। मुझे बहुत अच्छा लगा। उसने लिखा कि तुम मेरे पास किताब के रूप में आईं। तो ऐसी मोहब्बत हमने की है। पता नहीं यह अच्छी थी या बुरी थी। लेकिन अब भी हम झांसी जाते हैं, तो स्टेशन पर ही खड़े होते हैं। मेरे पति भी मेरे साथ होते हैं। वो भी स्वागत करते हैं। मोहब्बत का अपना ही तजुर्बा होता है, जिसको जो करें वही देख सकता है। वही महसूस कर सकता है। वही मैंने किया इसे आप बुरा मानें या भला मानें कि मैंने शादी किसी और से की और प्रेम किसी और से करती रही। लेकिन शादी वाला प्रेम नहीं, उसके लिए शादी थी और प्रेम वाला प्रेम, प्रेम था। तो यही था। मैंने बताया कि मैं किन बातों पर रीझी हूँ। लेखिका की छोटी-छोटी चीजों से रीझी हूँ.....।

**डॉ. टेकचंद :** बहुत शुक्रिया मैत्रेयी जी, आपने जो मामूलीपन की बात कही हैं कि छोटी-छोटी चीजें....., असल में वे छोटी छोटी चीजें नहीं होती और हमारा सारा संघर्ष इसी छोटेपन को उभारने में हैं। दलित आत्मकथाएँ, स्त्री आत्मकथाएँ मुख्य धारा की आत्मकथाओं से इसी मामले में अलग हैं कि वहाँ महिमामंडन की बात है। वहाँ अपने महत्व को बड़ा करके दर्शाने की बात है। और यहाँ जो है, जैसा है, जिस तरह का यथार्थ है, जैसे भोगा है, उसे अभिव्यक्त करने की बात है। इसी आधार पर आकर दोनों आत्मकथाएँ या दोनों साहित्य अलग होते हैं। वहाँ का सौंदर्य शास्त्र आनंद का है, यहाँ का सौदर्यशास्त्र संघर्ष का है, पराजय का है। जीत का, लगातार जूझते रहने का है। वर्डसवर्थ ने भी कहा है कि अच्छी कविता वो होती है जो जितना ज्यादा जनभाषा के नजदीक होगी वो कविता उतनी बेहतर होगी। हमारी दो लेखिकाएँ हमारे सामने बैठी हैं। और महत्ता इस बात की है कि मैत्रीय जी लोक को लेकर आती हैं अपने साहित्य में, रमणिका जी, उससे आगे जाकर खुद आदिवासी क्षेत्रों को, वहाँ की परम्पराओं को मान्यताओं को, मुख्य धारा के साहित्य में लाने, दिखाने, स्थापित करने का प्रयास करती हैं। तो इस मामले में आकर लोगों का शास्त्र वाला द्वन्द्व हो जाता है। वो शास्त्रवादी ज्यादा हो जाता हैं। वहाँ पर शुचिता का सवाल हो जाता है। जिस तरह देवानंद की आत्मकथा छपी, 'रोमांस विद लाइफ' यहाँ आत्मकथा छप रही है 'हादसे'। रोमांस और हादसे का कोई तालमेल नहीं है और जिनके जीवन में जो ज्यादा होगा वो अभिव्यक्त होगा। यहाँ सबकुछ सुन्दर नहीं है कि सब कुछ बेहतर ही होगा। यहीं से बात शुरू करते हैं। रमणिका जी की जो आत्मकथा आई, आपहुदरी उसको लेकर के गीता श्री ने लिखा: "आपहुदरी", "लव सेक्स और धोखा और विजय पताकाएं।" जीवन किस तरह से आगे बढ़ता है। जो इनका संघर्ष रहा, आदिवसियों के लिए काम किया। कोयला खादान के मजदूरों के लिए काम किया। और इस चक्कर में आंदोलन तो हुए ही हुए। जो कोयला खादान के ठेकेदार हैं उनकी मार भी सही। बकायदा, दे लाठियों पर लाठियां। तन पर पड़ी वो झेलना पड़ा, पूरा आंदोलन खड़ा हुआ।

स्त्री का बोलना समाज में वैसे ही खिलाफ माना जाता है। मैंने एक किताब देखी करीब पांच सौ से छः सौ पेज की किताब। एक महिला ने लिखी और उसका टाइटल 'चूँ'। यानि अगर वो 'चूँ' भी करती है तो बहुत भारी पड़ती है, पुरुष समाज पर। ये बड़ा है कि आप अपनी छोटी-छोटी चीजें छोटी बातें, छोटे-छोटे संघर्ष लेकर आतीं हैं, लेकिन वह मुख्य धारा के समाज पर भारी पड़ती हैं। बात वहीं से शुरू करेंगे 'आपहुदरी', 'हादसे' को लेकर कि जीवन को किस रूप में देखती हैं आप? संघर्ष और मुद्दे कहाँ तक सफल हो पाए? वहाँ पर आपने आदिवासी क्षेत्रों में कोयला खादान के मज़दूरों के लिए काम किया फिर दिल्ली में काम किया। कहाँ तक संघर्ष कर पाई और अभी क्या बाकी है?

**रमणिका गुप्ता :** देखिए, जीवन में बड़ी घटनाएँ छोटी घटनाएँ, सबंधित रहती हैं। मेरी दो आत्मकथाएं हैं। एक है 'हादसे' यह मेरे राजनितिक संघर्ष, सामाजिक संघर्षों की कथा है। मैंने राजननितिक, सामाजिक संघर्ष जो लड़े, मजदूरों के लिए लड़े, किसानों के लिए लड़े। औरतों के लिए लड़े, पानी के लिए लड़ाई लड़ी। जब राजनीति में आई तो एक स्त्री के नाते मुझे बहुत कुछ भूलना पड़ा। पुरुष का दृष्टिकोण होता है, स्त्री को एक कलेवा मानना यानि जो केवल भोग की वस्तु मानी जाती है, उस मानसिकता के खिलाफ मुझे संघर्ष करना पड़ा। राजनीति में संघर्ष की कथा हादसे में आती है। राजेन्द्र यादव जी ने एक बार बोला भी था कि रमणिका जी की आत्मकथाएँ हॉरिजेण्टल हैं। मैं एक शब्द अपने विषय में नहीं लिखी मैनें सारी बातें संघर्षो की लिखीं। और जो दूसरी आत्मकथा 'आपहुदरी' है, वो मेरे निजी अनुभव हैं। छोटे-छोटे अनुभव से लेकर बड़े अनुभव तक। मेरे भटकाव की कथाएँ भी हैं। मनुष्य कोई स्याह और सफेद रंग का नहीं होता। इसमें कई शेड्स होते हैं। मैं भी ग्रे-शेड्स रही हूँ। बचपन में मेरा बहुत दैहिक शोषण हुआ, नौकरों द्वारा, रिश्तेदारों द्वारा। जो बोला नहीं जा सकता था, उसको मैंने लिखा। कभी डायरियों में नोट करती रही। कविताओं में आता रहा। तब इन सब शोषणों को मैंने झेला। ये आत्मकथा में दर्ज है कि कैसे एक लड़की को परिवार,

समाज में कोई भी सुनने को तैयार नहीं था। मैं बोलना भी चाहती थी। पर माँ बाप को लगता था कि यह पढ़ना नहीं चाहती। इसलिए अपने मास्टर के खिलाफ बोलती है।

मेरा प्रेम विवाह हुआ। वो जाति तोड़कर मैंने किया। प्रेम विवाह भी किया। बिना दहेज के किया। और अपने पिताजी को चिठ्ठी लिखी कि मेरी शादी है, आप आइए। यानि उस जमाने में, 1948 की बात है। कोई सोच नहीं सकता था और मैंने पिताजी को चिठ्ठी लिख दी। इतनी मार पड़ती थी मुझे घर आने पर। पूछते थे कहाँ चली गई, मैंने कहा, "मि. गुप्ता से मिलने चली गई।" सच बोलती थी। एक बार मेरी प्रिंसिपल ने मुझे बुलाया कि तुम्हारा प्रेम-पत्र आया है। मैंने कहा, हाँ आया है। क्यों आया है? तो मैंन कहा मेरे पिताजी से पूछ लो कि प्रेम-पत्र क्यों आया है। तो मेरे पिताजी ने प्रिंसिपल को बहुत अच्छा लैटर लिखा, 'मुझे अपनी बेटी पर विश्वास है कि किसी को भी यह पत्र लिखे, लिख सकती है। मेरे पिता बहुत प्रगतिशील थे। लेकिन माँ शब्द को बहुत महिमामंडित किया जाता है। मेरी, माँ से नहीं पटती थी। मेरे पिताजी ने एक बार मुझसे कहा कि तुम्हारी माँ तुम्हारे प्रेम विवाह को नहीं मानती तो तुम जहर खा लो। "मैं क्यों जहर खाऊँ? मेरी माँ को जहर दे दीजिए। उन्होंने तो जिंदगी जी ली है, मुझे अभी जीना है।" शुरू से ही विद्रोह। मुझे कहती थीं सिर ढककर चलो। मैंने कहा मेरा भाई सिर नहीं ढकता। मैं क्यों सिर ढकूं। लड़का नहीं ढकता तो लड़की क्यों? मेरी माँ ने कहा। बीस कदम आगे चले या बीस कदम पीछे। मैं बीस कदम आगे चल दी। सत्यार्थ प्रकाश पढ़ा करती थी। अछूत कन्या फिल्म देखती थी। यानि बचपन मेरा विद्रोह में ही बीता। मैंने हर बात पर मार खाई। जिद्दी मुझे किसने बनाया, मैं नहीं जानती थी, समाज ने बनाया, परिवार ने बनाया, परिवेश ने बनाया, लेकिन मेरी जिद्द ने मुझे वहाँ पहुँचाया, जहाँ मैं आज हूँ। नहीं तो पता नहीं कहाँ दस-बीस बच्चे पैदा करके रोटियां पकाती होती। अगर मैं माँ की बात मानती। लेकिन मैंने नहीं मानी, जब मैंने लिखा तो मैंने हर चीज को खोलकर लिखा। क्योंकि अगर मैं नहीं लिखूँ, तो आने वाली पीढ़ी को क्या मालूम? कैसे बोलना सीखेंगे वो? बोलती नहीं हैं लड़कियाँ। घर में कैसे उनका शोषण होता है! ये चुप रहना ही बहुत भारी संकट होता है लड़कियों पर। जिस दिन वो जुबान खोलती है तो आगे बढ़ने लगती है।

आगे आने वाली जिंदगी में मेरी लड़ाईयाँ आईं, पॉलिटिक्स में आई तो वाइस प्रेसिडेंट ऑफ इण्डिया था, रेड्डी संजीव रेड्डी। अब इसके कारनामे अलग थे। मुझे केस करना पड़ा, मैंने लिखा, खोल कर लिखा। और कई नेता थे जो ये सोचते थे कि औरत पार्टी में आई है तो भोगने के लिए हैं। मैंने इस मिथक को तोड़ने की कोशिश की। मेरा मन है तो मैं कुँजड़े के साथ सो जाऊँगी, तुम प्राइम मिनिस्टर हो तो क्या हुआ। ये मिथक मैंने तोड़ने की कोशिश की। जहाँ मेरा मन हुआ प्रेम किया, मन नहीं हुआ तो विरोध किया। तो प्रेम करने को, मैं औरत का अधिकार मानती हूँ। प्रेम उसका अधिकार है। और विवाह करने को भी, मैं औरत का अधिकार मानती हूँ। विवाह करके रहो या विवाह के बिना रहो। ये औरत पर छोड़ देना चाहिए। समाज को उसका दायित्व नहीं लेना चाहिए। तो मेरी आत्मकथा में मैंने छोटी-छोटी चीज़ों को भी लिया लेकिन वो छोटी या बड़ी चीजें समाज के लिए तोड़ना बड़ा होता है। आप राह पर चलते रहिए तो कोई बोलेगा नहीं लेकिन राह के खिलाफ जाइए तो आप बड़े बन जाते हैं। तो मैंने बचपन से तोड़ा। अपने घर से मैंने तोड़ने की शुरूआत की। बहुत कठिन होता है ये सब। पर मैं जिद्दी थी। हर प्रथा को तोड़कर अपनी परंपरा चलाने की जिद्द मैंने की। इसलिए प्रेम विवाह किया। इसलिए जाति तोड़कर विवाह किया। इसलिए दहेज के बिना विवाह किया। सिविल मैरिज हो गई। पण्डित घर में नहीं आने दिया। कोर्ट मैरिज हुई उस समय में भी विद्रोह की भावना रही। मेरा हठ है जो आगे राजनीति में भी मुझे आगे लेकर चलता रहा.......।

**डॉ. राजेश कुमार :-** दोनों ही लेखिकाओं ने प्रेम के महत्त्व को रेखांकित किया। निश्चित रूप से प्रेम का भाव जीवन में सबसे महत्वपूर्ण है, इसे रमणिका जी ने विद्रोह के रूप में देखा और मैत्रेयी जी ने देखा मुक्त करने के भाव रूप में। निश्चित रूप से प्रेम मुक्त करता है और विद्रोह का सबसे सशक्त माध्यम हो सकता है प्रेम करने के मामले में शायद हम भारतीय खूब चर्चित हैं। बावजूद उसके राजेन्द्र यादव कहते थे कि भारत में प्रेम कहानी नहीं लिखी गईं। लैला-मजनूँ, शीरीं-फरहाद, हीर-रांझा, तमाम कहानियाँ हैं। इन तमाम कहानियों पर बात करते हुए यादव जी कह रहे हैं कि भारत में प्रेम कहानी नहीं लिखी गईं। ये प्रेम कहानी के नाम पर जो लिखा गया, ये वास्तव में विद्रोह की कहानियाँ हैं। इनमें प्रेम कहीं आकर जाति की समस्या बन जाता है कि लड़का अलग जाति का है लड़की अलग जाति की है। धर्म का मामला बन जाता है। आप पुरानी फिल्में देखिए, उनमें अमीर और गरीब का मामला हो जाता है ये प्रेम। तो ये प्रेम-कहानियाँ विद्रोह के रूप में आती हैं और जैसा कि हमारी दोनों लेखिकाओं ने स्वीकार किया कि आज जीवन में वे जिस मुकाम पर हैं, उसमें प्रेम की बहुत बड़ी भूमिका है। **मेरा यह प्रश्न दोनों लेखिकाओं से है कि क्या उनकी आत्मकथा को प्रेम-कहानी के रूप में भी पढ़ा जा सकता है? अथवा राजेन्द्र यादव ठीक ही कहते थे कि भारत में प्रेम-कहानियाँ नहीं लिखी गई?** आपके प्रेम की साक्षी माँ रहीं जिस भी रूप में। हाँलाकि दोनों ही लेखिकाओं का अपनी माँ से संबंध एक द्वंद्वात्मक संबंध रहा और काफी लड़ाई-झगड़े उसमें रहे। तो खासतौर पर हम 'कस्तूरी कुण्डल बसै' की बात करें तो 'कस्तूरी कुण्डल बसै' के संदर्भ में मैत्रेयी जी लिखती हैं कि 'ये तो मैं लिख रही थी, अपनी कहानी उसमें माँ की कहानी हो गई। नायिका बनकर उभर आई। मैंनें उन्हें नायिका बनाने के लिए नहीं लिखा था। यदि हम 'गुड़िया भीतर गुड़िया' और "कस्तूरी कुण्डल बसै" आत्मकथाओं को एक साथ पढ़ें तो पाते हैं कि दो व्यक्ति आत्मकथा के केन्द्र में हैं। उनकी माँ 'कस्तूरी' और उनके पति

'डॉ. साहब'। दोनों के साथ लेखिका का संबंध बड़ा जटिल संबंध है। प्रेम और द्वंद्व का संबंध एक साथ है। माँ के साथ आत्मीयता भी है। एक ओर माँ की सशक्त छवि गढ़ी जाती है और जब उनके प्रति शिकायती लहजा होता है, तो कहीं न कहीं उस छवि को तोड़ने की कोशिश भी लेखिका करती हैं। लेकिन उस तोड़ने की प्रक्रिया में माँ की छवि और सशक्त हो जाती है। हालांकि रमणिका जी की आत्मकथा में वो चीज नहीं है, माँ उस तरह केन्द्र में नहीं आ पाती। माँ की जो भूमिका है, वो एकदम सपाट रहती है। 'कस्तूरी कुण्डल बसै' पढ़ते हुए संबंधों को समझने की कोशिश में एक फिल्म का दृश्य मुझे याद आता है। फिल्म का नाम था 'शक्ति', दिलीप कुमार और अमिताभ बच्चन अभिनीत फिल्म थी। उसमें जो पिता दिखाया है, वह बहुत आदर्शवादी है, सिद्धान्तवादी है। जब उसके बेटे को खलनायक उठा ले जाते हैं, तो उस पिता को अपना आदर्श भी बचाना है, सिद्धान्त भी बचाना है और बेटे को भी बचाना है। सिद्धांतों को बचाने के चक्कर में बेटा हाथ से निकल जाता है और सारी जिन्दगी पिता-पुत्र के बीच के जो संबंध बनते हैं, उन्हीं जटिल संबंधों की कहानी है-शक्ति। शक्ति पिता और पुत्र की कहानी है, और 'कस्तुरी कुण्डल बसै' माँ और बेटी के संबंधों की कहानी है। इन संबंधों में ये भी थोड़ा अजीब लगता है, जब एक तरफ मैत्रेयी जी माँ की छवि को जिस तरह पेश करती हैं इतनी सशक्त छवि बनकर उभरती हैं लेकिन वही 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में उनकी छोटी सी इच्छा को शत्रुभाव से नकार देती हैं। उनकी माँ की इच्छा है कि उनकी बेटी उन्हें कोई पुस्तक समर्पित करें लेकिन लेखिका स्पष्ट शब्दों में इंकार करती है कि वो नहीं चाहती कि माँ को कोई पुस्तक समर्पित करें। उसी तरह उनके पति की छवि बहुत सशक्त रूप में, बेहद संवेदनशील रूप में आती है लेकिन जैसे ही विमर्श शुरू होता है तो उस छवि को फिर तोड़ना शुरू करती हैं। तो अपने आप में बहुत दिलचस्प है यह देखना कि लेखिका के जीवन में वही दोनों व्यक्ति सब-कुछ हैं। उन दोनों की छवि को खुद बनाती हैं, उन्हें तोड़ने की कोशिश करती हैं और उस कोशिश में वही दोनों व्यक्ति नायक बनकर उभरते हैं, लेखिका पीछे छूट जाती है। **तो हमारा प्रश्न है कि लेखिका ने जानबूझकर छवि को गढ़ने और तोड़ने का खेल किया है, अथवा ये संबंध ही ऐसे थे। उन संबंधों की जटिलता के विषय में थोड़ा विस्तार से बताएँ, ताकि हमें समझने में मदद मिले।**

**मैत्रेयी पुष्पा :** जो आत्मकथा लिखता है, वो कहाँ चाहता है कि कोई और हीरो हो जाए। मैं तो खुद ही नायिका बनने वाली थी और हर जगह बनने वाली थी, लेकिन मैं क्या करती! शादी मैंने करनी चाही तो मेरी माँ एक प्रगतिशील फार्मूला लेकर आ गईं। उन्होंने कहा कि मैं तेरी शादी जन्मपत्री देखकर नहीं कराऊँगी। वर-वधू की मार्कशीट का मिलान कराऊँगी। मेरी माँ अपने झोले में मार्कशीट लेकर लड़कों के दरवाज़े जाती थी और लड़कों के पिता से कहती थीं-दो बात हैं, एक तो दहेज नहीं दूँगी क्योंकि मेरी लड़की पढ़ी-लिखी है, आपका लड़का भी पढ़ा-लिखा है। दोनों बराबर हो गए और दूसरी बात उन्हें किसी का विश्वास नहीं था। उन्हें आशंका रहती थी कि कहीं गलत जगह चली जाएगी लड़की। लोग तंग आकर उनसे कह देते थे, 'जन्मपत्री दिखाओ।' तो कहती थीं कि जन्मपत्री नहीं है, मार्कशीट है। मेरी मार्कशीट दिखाती थीं और कहती थीं कि अपने लड़के की दिखाओ। तो भगा देते थे लोग। तो मैंने समझ लिया, मेरी माँ मेरी शादी नहीं करना चाहतीं, ये तरह-तरह के बहाने निकाले हैं इन्होंने। मार्कशीट का फार्मूला आज तक किसी ने नहीं चलाया होगा। जो उन्होंने आज से पचास साल पहले चला दिया। तो मेरा द्वंद्व होता या नहीं होता? आप ही बताइए। मैं तहेदिल से शादी चाह रही थी। लेकिन वो नहीं करना चाह रहीं थीं। तीन-चार महीने बाद आईं और कहा, मैं लड़का देख आई हूँ। अब तेरी शादी उस लड़के से नहीं होगी, जो मार्कशीट नहीं दे रहा था और जिसका बाप दहेज माँग रहा था जबकि लड़का वहीं खड़ा था बाप के पास और बैल की तरह देख रहा था। अब जो देखकर आई हूँ उसी से होगी। मैंने कहा, "मैं छः महीने से उस इंजीनियर के बारे में सोच रही हूँ, जिससे बात चल रही थी। आज तुम देख आईं दूसरा, अब उससे कर ले।" माँ ने दो टूक कहा, नहीं उसी से होगी। उसने मार्कशीट देखकर हाँ बोला, उसने अपनी मार्कशीट भी दिखाई और उसने मेरे साँवले रंग को भी पसंद कर लिया जबकि सब सोचते थे कि तुम्हारी लड़की काली होगी। लेकिन मैंने कहा देखो लल्लू जैसे मैं हूँ मेरी लड़की वैसी नहीं है, मेरी लड़की साफ है। उन्होंने कहा ऐसी बात हम नहीं मानते, हमने आपको देख लिया। लाली मुझे किसी ने पंसद नहीं किया, उसने पंसद किया। तो मैंने कहा कि मैं शादी इसीलिए कर लूँ क्या? उससे मेरी शादी कुछ अबनार्मल तरीके से हुई है। राजेन्द्र जी से कहा मैंने कि मैं अपनी शादी लिखूँगी। उन्होंने कहा शादी क्या लिखोगी? तुम्हारी तो अरेंज मैरिज है तो मैंने कहा मेरी अरेंज मैरिज भी तो अजीब है। मेरी उम्र तब 18 साल थी। सबकी शादी हो रही थीं और मेरी माँ मेरी शादी नहीं करना चाहती थी, मेरी माँ विधवा थीं। उन्हें लगता था कि यह भी शादी करके चली जाएगी तो मेरा क्या होगा। उनकी भी सही बात थी, मैं जिसे समझ नहीं रही थी, ये मैंने पूरी सच्चाई के साथ खुदा को हाजिर नाजिर करके लिख दिया। मेरी माँ 22 साल की उम्र में विधवा हो गई थी। क्योंकि वह मुझे किसी आदमी के साथ नहीं देख पा रही थी। मुझे मेरे पति के साथ देखना उन्हें अजीब सा लगता था। वह हमारे साथ रहती थीं। हम घूमने जाएँ तो संग में माताजी। जाहिर है, मैं क्या करूँ, क्या न करूँ कि उस उम्र में माताजी को हदों की गाँठ में बाँध कर चलूँ? ये सारी चीजें मैंने आत्मकथा में कही हैं। कैसे हम एक दूसरे से आत्मीय संबंध में भी अलग दिखते हैं और बात ये थी कि उनका चरित्र जैसाकि रमणिका जी कह रही हैं, विद्रोही चरित्र था।

'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैं ही सही नहीं थी। पति का पक्ष भी सही था। हालांकि उनका विरोध करते हुए भी वो हीरो होने

लगे। मैंने नहीं बनाया। उनके कर्मों ने उन्हें हीरो बना दिया। जैसे एक उदाहरण दूँगी। राजेन्द्र यादव बदनाम व्यक्ति रहे हैं साहित्य जगत के और मेरा ज्यादा संपर्क रहा है उनसे। 24 साल संपर्क रहा है मेरा उनसे। मैंने किताबें लिखीं हैं, उनके साथ रहकर लिखी हैं तो मुझे क्या हुआ 'अल्मा कबूतरी' ने लिखवा लिया, छप के आ गया तो राजेन्द्र जी ऐसे खुश हुए जैसे कोई पिता खुश होता है। जैसे कोई भाई खुश हो। पर मेरा पति बिल्कुल खुश नहीं हो रहा था। तो जब 'अल्मा कबूतरी' छपी तो मुझे राजेन्द्र जी से इतनी घनिष्ठता लगी कि मैंने उनका चित्र फ्रेम कराकर अपने बैडरूम में लगा लिया। वहाँ रेणू जी का भी चित्र लगा था लेकिन रेणू जी तो इस दुनिया में नहीं हैं तो कोई बात नहीं लेकिन राजेन्द्र जी तो थे तो उनका चित्र लगाने से टकराव हुए। हमारे डॉ. साहब को जब गुस्सा आए तभी राजेन्द्र जी की तस्वीर आकर पटक दें। सब टूट फूट जाए। कांच बिखर जाए। मैंने कभी लड़ाई नहीं की, कलह नहीं की। क्योंकि कलह से लेखन बन्द होता है। अपना घर बिखरता है। बच्चे दुखी हो जाते हैं, मैं चुप हो जाती थी। वही आदमी शाम तक उस तस्वीर को फ्रेम करवाकर लगा देते थे। मैं कहती इतनी जल्दी कैसे जड़ गई तो मेरा नौकर कहता, अंकल चार गुना पैसा देकर जड़वा कर लगवा देते हैं तो उनको अंदर से फीलिंग होती होगी कि जो किया है गलत किया है। शायद मैं लड़ती तो वो ऐसा न करते। आप मुझे ये मान सकते हैं कि मैं बड़ी आज्ञाकारणी पत्नी थी। अगर वह कुछ कह रहे हैं तो उस वक्त मैं उन्हें कुछ नहीं कहती। बाद में मैं कोने में ले जाकर कहती हूँ कि तुमने ऐसा क्यों कहा था। किसी के सामने बेइज्जती आज तक नहीं की। न करती हूँ। क्योंकि मुझे खुद दुख लगता है कि मैं किसी को दुखी भी नहीं करना चाहती। तो इस तरह से मैं एक ऐसी पत्नी रही हूँ। मतलब विद्रोहिणी पत्नी नहीं रही, ऐसे तो कब का टूट जाता सारा कुछ। तो इन सबका जवाब यही है कि जो टकराव हैं छोटे-छोटे टकराव हैं, घर में चलता है।

**डॉ राजेश कुमार :** जैसा कि मैत्रेयीजी ने कहा कि वे एक अच्छी पत्नी साबित हुईं। इसी प्रकार हमारे मित्र ने कविता लिखी चार लाइन की कविता थी।

'अच्छी बेटियाँ, अक्सर बेवफा प्रेमिका होती हैं।'

जैसे ही यह कविता हमारी मित्र मंडली के बीच में आई। इस पर टिप्पणी आई- **'अच्छी बेटियाँ अच्छी पत्नी होती हैं'।**

**डॉ. टेकचंद :** मैत्रेयी जी, मुझे एक अंतर दिखाई पड़ा, आपकी और रमणिका जी की आत्मकथा एवं दृष्टिकोण में अंतर दिखाई पड़ा। रमणिका जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा 'मैं इसे साहसी कहूँगी जहाँ पर्देदारी नहीं है।' जैसा जीवन जिया गया वैसा यहाँ लिख दिया गया। कोई पाखण्ड नहीं और अंत में स्वीकार है कि असली मुक्ति स्वच्छन्द होने में है। स्वतंत्रता तो पाखण्ड है, नारा है और उसमें पारदर्शिता नहीं है। आप स्वतंत्रता को कैसे देखती हैं और मिली हुई स्वतंत्रता को कैसे उपयोग किया जाए और स्वछंदता को कैसे देखा जाए। रमणिका जी आपने माँ से रिलेटेड जो स्टेटमेंट दिया था, वो टैबू वाला, वो फिर से एक बार कहें। क्योंकि माँ को लेकर दोनों लेखिकाओं का नजरिया अलग-अलग है। और स्वतंत्रता को लेकर भी अलग-अलग नजरिया है।

**रमणिका गुप्ता :-** माँ को लेकर मेरा नजरिया है कि हमारे देश में स्त्रियों के जितने सवाल उठते हैं या स्त्री को जो स्त्री बनाया जाता है, उसमें माँ का बड़ा हाथ है। बचपन से ही लड़कियों की लड़की बनने की ट्रेनिंग शुरु हो जाती है। यहाँ मत बैठो, यहाँ से मत उठो। जाओ तो भाई को साथ लेकर जाओ। भाई पाँच बरस का होता है और लड़की 18 बरस की। यानि बॉडीगार्ड 5 बरस का है और लड़की 18 बरस की। लड़का रोता है तो उसे ताना दिया जाता है-'क्या लड़कियों जैसे रो रहा है!' यानि पहले ही भेदभाव पैदा कर दिया जाता है और ये माँ से शुरूआत होती है इसलिए कई बार मैं कहती हूँ कि माँ को ही ट्रेंड करने की दरकार है। स्त्री, जो आज बच्ची हैं जब माँ बनें, इस बात को दिमाग में लेकर चलें कि वो अपनी बच्ची को ये नहीं कहेंगी कि यहाँ मत बैठो। यहाँ मत हँसो। अकेले मत जाओ। तो आप कहेंगी, "अकेले जाओ और खुद अपनी रक्षा करो। किसी पर आश्रित मत रहो।" जब औरत आजादी चाहती है तो छुईमुई औरत बन कर आजादी नहीं पा सकती। उसको अपने पैर पर खड़ा होना होगा। जैसे आप नौकरी करने जाती हैं; स्वावलंबी बनने के लिए तो खुद की रक्षा भी करनी होगी। ऐसे तो कोई भी पीट जाता है, मैं भी पिटी हूँ कई बार। 13 बार शारीरिक हमले हुए। ये हाथ टूट गया। यहाँ भाला लगा, मैं तो नहीं हारी, मुकाबला किया। मैं 15/16 बार जेल गई। पुलिस द्वारा पिटाई हुई। जिंदा जलाने की कोशिश की गई। लेकिन मन में अगर बल हो तो आदमी कुछ भी कर सकता है। ये मेरी माँ ने नहीं सिखाया, मैंने माँ के आचरण से सीखा। एक बार पिताजी पर गाड़ी में हमला हुआ तो मेरी माँ ने ही पीट-पीटकर उन डकैतों को भगाया और मेरे पिता जी को बचाया। तो ये प्रेरणा ही है, जिसे हम अपने आसपास से ही पाते हैं।

देखिए, स्वतंत्रता-स्वच्छन्दता क्या है? स्वच्छन्दता को लोग गलत मान लेते हैं। अच्छी लड़की क्या है, यह खुद सापेक्षित शब्द है। अच्छी लड़की समाज की नजर में कौन है? जो चुपचाप रहे। बोले नहीं, विरोध न करे। जहाँ माँ-बाप कहें वहाँ शादी कर ले। जो पति कहे उसकी बात मान लें। जो बेटा कहे उसकी बात सुन ले। वो अच्छी लड़की, अच्छी पत्नी, अच्छी माँ हैं। मैं उस मायने में न मैं अच्छी बेटी थी, न माँ, न पत्नी थी। क्योंकि जब मैंने विद्रोह किया। आंदोलन शुरू किया तो अपने बच्चों को देखती या वो हजारों लोग जो मेरी तरफ देख रहे थे उनके आंदोलन को देखती। मैंने आंदोलन को चुना। मैंने बच्चों को हॉस्टल भेज दिया। हजारों लोग उस आंदोलन से प्रभावित हुए थे। ये निर्णय की बात है। आप घर चुनती हैं, मैंने समाज को चुना। जहाँ तक स्वच्छन्दता का सवाल है, स्वच्छन्द औरत अपने फैसले खुद लेती है। अपनी मनमानी भी करती है। जरूरी नहीं कि ब्याह करना है। ब्याह करना

है तो जरूरी नहीं कि जिससे माँ-बाप कहें, उसी से करना है। या ब्याह के बाद खूंटे के साथ बाँध दिया तो बंधी रहो! मुझे याद है बीच में मेरे पति के साथ मेरे रिश्ते खराब हुए। राजनीति में आने के बाद निगम से मेरा रिश्ता बना, मैंने फैसला किया कि मैं तलाक लेकर उनसे शादी करूँगी। रमा मित्रा ने मुझे बुलाया कि ये व्यक्ति तो बहुत स्वच्छन्द है, तुम ऐसे ही रिश्ता क्यों नहीं कायम कर सकतीं? उससे मैंने रिश्ता कायम रखा। मैंने शादी की। मैं स्वच्छन्दता पर विश्वास करती हूँ। यह औरत का निर्णय है कि वो किससे रिश्ता कायम करना चाहती है। पुरुष पचास इतर संबंध रखता है, तो उसे कहेंगें पुरुष की मर्दानगी और स्त्री एक रिश्ता रखती है तो कुलटा हो जाती है। मैंने इस मिथक को तोड़ने की कोशिश की। मेरे जो रिश्ते रहे हैं, मेरी शर्तों पर रहे। समाज सही दिशा में चले, मैं क्यों समाज के साथ चलूँ? मैं परंपरा के पीछे नहीं चली, कहीं तो तोड़ना पड़ेगा परंपरा को, कहीं तो अप्रिय बनना पड़ेगा। आपको कटु आलोचना सहनी पड़ती है। 'ईसा मसीह' पर पत्थर नहीं पड़े थे क्या? सूली नहीं चढ़ा था क्या, दिशा बदली थी। रास्ता बदलने वालों को पत्थर खाने के लिए तैयार रहना चाहिए। तो स्वच्छन्द हुए बिना रास्ता नहीं बदल सकता स्वतंत्रता भी ठीक है।

**डॉ राजेश कुमार :-** दरअसल रमणिका जी ने एक इशारा किया है-स्त्री छवियों की तरफ। एक छवि है बुरी लड़की की और एक छवि है नेक लड़की की। रमणिका जी नेक लड़की की छवि पर सम्मोहित नहीं होतीं। इन दिनों जितनी भी स्त्री-आत्मकथाएँ आईं, रमणिका जी की आत्मकथा या मैत्रेयी जी की आत्मकथा या कौशल्या बैसेंत्री की 'दोहरा अभिशाप', प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' ... सभी आत्मकथाओं में स्त्री छवियों का द्वंद्व साफ दिखता है। इनमें दो छवियाँ प्रमुख हैं-एक है सती सावित्री की छवि, दूसरी छवि है-मीरा की छवि। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में मीरा और सती का द्वंद्व है, हालांकि मैत्रेयी जी अंततः सती मैया की जय बोलती हैं जबकि रमणिका मीरा की जय बोलती हैं-"अपने घर का पर्दा कर लो मैं अबला बौरानी।" रमणिका जी की आत्मकथा में मीरा की छवि इतनी प्रोमिनेंट है बावजूद इसके वो भी कहती हैं कि उन्हें बचपन से सती मैया की जय बोलने की ट्रेनिंग मिली और कहीं न कहीं वो शुरूआती संबंधों में एक अपराध बोध महसूस करती हैं, रमणिका जी में वो अपराध बोध पैदा होता है। मैत्रेयी जी में तो मीरा और सती दोनों एक साथ होने का द्वंद्व दिखता है, प्रभा खेतान तो ऐसी हैं कि इनमें से किसी छवि में फिट नहीं होती। न वो मीरा की छवि में फिट हो रही हैं न सती की। यानि जो पारंपरिक छवियां हैं, उसमें कहीं फिट नहीं होती। प्रभा खेतान को समझने के लिए 'स्त्री छवि के नये कोड की तलाश' करनी पड़ती है। मीरा और सती की भूमिका एक साथ कैसे निभे! ये द्वंद्व, रमणिका जी से ज्यादा मैत्रेयी जी के यहाँ है। रमणिका जी ने चुन लिया। सती मईया की जय बोलना छोड़ दिया। आप प्रभा खेतान की आत्मकथा पढ़ते हैं, पहला वाक्य है 'सती मईया की जय पिछले साठ साल से सती मईया की जय बोलती आई। सती मईया को प्रणाम लेकिन अब मेरे भीतर बची हुई उस स्त्री को प्रणाम।' तो उस द्वंद्व में प्रभा खेतान भी अपने भीतर की स्त्री को तलाशती हैं। मैत्रेयी जी की आत्मकथा से एक उद्धरण पढ़ रहा हूँ-"बहरहाल मैं मीरा की तरह प्रेम करने के लिए नहीं, सावित्री की तरह सुहाग के लिए हाथ में खडग लिए निकल पड़ी थी और बेरहम तरह से उन नाजुक धागों को काट डाला जो मुझे कहानी कविता करना सिखाते। मैं प्रेम कहानी कैसे लिखूँ?" **तो मेरा सवाल मैत्रेयी जी से है कि इनका मीरा और सती का जो द्वंद्व है, उसको हमारे बीच में साझा करें कि वो उस द्वंद्व से कब तक जूझती रही हैं? उन्हें मुक्ति मिली या नहीं, किसी एक छवि को पूरी तरह चुना या नहीं?**

**मैत्रेयी पुष्पा :** 'मैं स्वच्छन्दता में विश्वास नहीं करती' चाहे आप ये मेरा कोट लिख लिजिए। मैं स्वतंत्रता में विश्वास करती हूँ। मेरे जीवन के कई खण्ड हैं। एक वो जो मैंने बेटी की तरह निभाया। वो लाख द्वंद्व होते हुए भी शादी माँ के हाथों करवाई। आप इसका कोई मायना नहीं निकाल पाए होगें, मैं बताती हूँ। क्योंकि मेरी माँ विधवा थी, 22 साल की उम्र में विधवा हुई। पूरा जीवन उसने मुझे पालने में, पढ़ाने के लिए, उन्नति करने के लिए लगाया और भी औरतों की उन्नति के लिए लगाया। मेरे बूढ़े दादा जी थे, उनके लिए किया। वो तो कहीं भी जा सकती थी। 22 साल की लड़की कहीं भी जा सकती है, वो नहीं गईं, उन्होंने सारा जीवन बलिदान कर दिया। मैं सोचती थी कि मेरी माँ के जीवन में कोई खुशी नहीं आई। कम से कम एक खुशी जो मेरी शादी की है, वो अपने हाथों करेंगी, वो आए। जब एक लड़का इनके घर आएगा दामाद बनकर, तो शायद इन्हें अच्छा लगेगा। जबकि वो पुरुष को महत्व नहीं देती थीं। अपनी बेटी के विवाह के संबंध में निर्णय लेना उनका अधिकार है, जबकि मैं भी मानती हूँ लड़की का अधिकार भी है, लड़की की शादी होती है। लेकिन मेरे सामने स्थितियाँ दूसरी थीं। स्थितियाँ भी तो होती हैं, जो व्यक्ति को बनाती हैं। तो मैंने इस तरह जिया। एक अच्छी बेटी मान सकते हैं मुझे आप। दूसरा पक्ष शुरू हुआ पत्नी का। मेरी माँ ने कहा था कि तू ऐसा मत करना कि तू गृहस्थी में ही लगी रहे, पति की सेवा में ही खप जाए। (मेरी माँ सती मईया की जय कहने वाली नहीं थी न।) और सुन ऐसा मत करना कि पति के आने पर खाये! तू पहले ही खा लिया करना। उन्होंने मुझे ऐसी शिक्षाएँ दीं। और देख तेरा पति लड़े तो तू चली आना। और एक दो बार तो मैं बक्सा लेकर चली भी आई। थोड़ी अनबन हुई। तो डॉ. साहब गए और मुझे लिवा लाए। पूरे गाँव ने मुझे विदा कर दिया। अरे लली जा। दामाद बहुत बढ़िया है। तो वो मेरी भूमिका शुरू हुई।

तीसरी भूमिका आई माँ की। मेरे एक के बाद एक तीन लड़कियाँ हुईं। समाज ने मेरे साथ दया का भाव दर्शाया, मुझे बेचारी सिद्ध किया। एक तो मेरा भाई नहीं था। ऊपर से तीन लड़कियाँ हो गईं। एक के बाद एक, तरस की ऐसी बौछारें की कि मैं घर के अन्दर बन्द हो गई। 'हाय बेचारी.... देखो इसके भी कोई

भाई नहीं और इसको कोई लड़का भी नहीं हुआ। डॉ. साहब का वंश मैट दिया। हमारे गाँव में चर्चा चली कि डॉ. साहब की दूसरी शादी कर देते हैं। यहाँ लड़की तैयार है, उससे लड़का हो जाएगा। तो डॉ. साहब ने मुझसे कहा, "तुम्हारे गाँव के लोग बड़े बेवकूफ हैं, मेरी दूसरी शादी करने वाले हैं।" तब तो लोग यह भी कहते थे कि हाय तीन लड़कियाँ, उनके भी चश्मा। इनकी कैसे शादी होगी? हाय तुम तो दहेज देते पागल हो जाओगे। तब मैंने चुप रहकर ही एक चुनौती स्वीकार की कि मैं लड़कियों को ऐसा बनाऊँगी कि आप देखेंगे। तो मैं उसमें लग गई। और वो आज तीनों डॉक्टर हैं। दो प्रोफेसर हैं और एक अपना क्लीनिक चलाती है। तो जो लोग हँसी उड़ाते थे, उनके पास इलाज के लिए आते हैं। अब सोचिए मुझे स्वतंत्रता और स्वच्छन्दता में अंतर करने और जीने का मौका नहीं आया।

इसके बाद मेरे जीवन का चौथा खण्ड शुरू हुआ लेखिका का। मेरी बेटी जब हाउस जॉब कर रही थी तो उसने कहा, मम्मी तुम्हारी तो लिखने में रूचि है तो तुम लिखो न। मैंने कहा बेटा क्या लिखूँ। तुम हमारे लिए लिखती थीं स्कूल में हम फर्स्ट आ जाते थे। अब अपने नाम से लिखो। तब मैंने लिखना शुरू किया। और मुझे नहीं पता था कि मेरा लिखा पढ़ा भी जाएगा। क्या मैं ऐसा लिखूँगी, मेरे पास क्या है, भाषा है गाँव की। औरत हूँ, न कोई अनुभव है। जिसे आप लोक कहते हैं, आप मुझे लोक से जोड़ते हैं, जो मेरा सौभाग्य है। पहचान ही नहीं। स्त्री विमर्श होता क्या है? मुझे कुछ पता नहीं था। मैं नादान थी। मुझे कुछ नहीं पता था और मैं लिखने लगी। मैं राजेन्द्र जी के सानिध्य में गई। उन्होंने मुझे समझाया और मैं लिखने लगी। मैंने एक-एक उपन्यास के 60-60 ड्राफ्ट किए हैं। और वो 400 पेज के उपन्यास हैं। जब मैं गुड़िया भीतर गुड़िया लिखने लगी, तो कई स्त्रियों के पत्र मेरे पास आए कि आप लेखिका कैसे बनीं? आप अपनी माँ के साथ कैसे रहीं, हमें इससे फर्क नहीं पड़ता। हमें तो यह बताइये कि आप लेखिका कैसे बनीं? मेरे पति आत्मकथा के दूसरे भाग से इतना डर गए थे कि कहने लगे, नहीं-नहीं ये मत करो। जितनी भी लेखिकाओं ने लिखा सबने पति से अलग होकर लिखा। क्या मैं पागल थी कि उसी के घर में रह रही थी। उसी का खा रही थी। और उसी के विरूद्ध लिख रही थी। 'मन्नू भंडारी' ने लिखा, राजेन्द्र जी से अलग होने के बाद। प्रभा खेतान ने लिखा डॉक्टर साहब की मृत्यु के बाद। स्वतंत्रता और स्वच्छन्दता की बात मैंने इस तरह की कि मैं चार कदम आगे चलूँगी और मेरे घर में कलह की बात उठेगी। यदि मैं इतनी आगे जाऊँगी और जब मुझे मौका मिलेगा मैं फिर दो कदम पीछे चल दूंगी। ये मेरी रणनीति थी। मैने 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में लिखा है कि 'मैं कई बार ऐसी तिकड़में कर जाती हूँ' राजेन्द्र यादव बहुत बीमार थे। वहाँ उनके घर का कोई नहीं पहुँचा। उनका ऑपरेशन होना था उन्होंने मुझसे फोन पर कहा, ऐसा करो तुम आ जाओ, मेरा कन्सल्ट देने वाला कोई नहीं है। यहाँ ऑपरेशन होना है, ये काम भी तुम्हीं कर दो। अब वो मुझे फोन कर रहे हैं, पति मेरे साथ हैं वो गुस्सा हो गए। बुड्ढा वो अस्पताल में भी बुला रहा है क्या? मैंने कहा, "मुझे नहीं तुम्हें बुला रहे हैं।" और मैंने फोन दे दिया। जब उन्होंने बात की तो मेरे पति पिघल कर रांगा हो गए। और वो कन्सेंट देने के लिए राजी हो गए। और कहा राजेन्द्र जी मैं पैसे भी लाया हूँ और कन्सेंट लिखी। ये छोटी सी बात है। पर वह खाई बना देती। मैं अकेले जा भी नहीं सकती थी। स्वच्छन्दता जिसे कहूँ, वह मैं नहीं कर सकती थी। इसी तरह अपनी स्वतंत्रता को बचाती रही हूँ। इसे चाहे आप सही मानें या गलत मानें।

**डॉ. टेकचंद :** दो बातें यहाँ से निकलकर आती हैं। एक तो बच्चों की बात आई। रमणिका जी के बच्चे भी विदेश में सैटल हैं। रमणिका जी, आपके बच्चों ने आत्मकथा पढ़ी है? पढ़ी है तो क्या रिएक्शन है। आपके जो रिलेशन्स हैं। उन पर आपने खुलकर लिखा है तो आपका बेटा या बेटी किस तरह से उनको पढ़ते हैं? दूसरा राजेन्द्र यादव जी के साथ क्या अनुभव रहा?

**रमणिका गुप्ता :-** ये छोटी बातें नहीं, बड़ी बातें हैं। मेरे बच्चे वैल सेटल्ड हैं। मैंने अपने बच्चों को जब पति के साथ भेजा तो छोटी बच्ची 7-8 साल की थी, बड़ी बच्ची 12 साल की थी और बेटा हायर सेकेण्डरी में पढ़ता था।

अब मेरा बेटा अमेरिका में 13 अमीर आदमियों में से एक है। और मेरी छोटी बेटी अपनी कंपनी चलाती है, ट्रेवलस की दुनिया में लोगों को लेकर जाती है। बीच की बेटी सोशल सर्विस में वकील है। जो कपिल सिब्बल के साथ विस्थापित आदिवासियों के लिए मुकदमा लड़ा, कपिल सिब्बल और मेरी बेटी ने लड़ा था। मेरे बच्चों ने मेरी जिंदगी को जाना है। मेरे बच्चे मुझसे बहुत प्यार करते हैं। छोटी बेटी थोड़ी खफा रहती थी। वो अपने पापा से ज्यादा प्यार करती थी। बाकी दोनों बच्चे मेरी लाइफ को जानते हैं, सोशल लाइफ को जानते हैं और मेरे क्षेत्र में भी हर जगह जानते हैं कि कितने हजारों लोग मुझ पर डिपेंड करते थे और मैं उन्हें छोड़कर केवल घर में बैठ नहीं सकती थी। तो ये मेरे इतर संबंधों को भी जानते हैं। जब ये मेरी पहली आत्मकथा आई, मेरे बच्चों ने पढ़ी- मेरे संघर्ष की कथाएँ, जब ये आत्मकथा आई तो मैंने अपने बेटे को इसकी पाण्डुलिपि दी। और मेरी बेटी ने इसे पढ़ा, मैंने अपने बेटे से कहा, "बेटे इसे पढ़ना, पर तुम्हारी माँ की कथा समझ कर मत पढ़ना एक औरत की कथा समझकर पढ़ना। ये एक औरत की नहीं, हिन्दुस्तान की औरत की नहीं, विश्व की औरत की कथा है। हर औरत को जो सामना करना पड़ता है और किस तरह उसे बेबस होना पड़ता है, समझौते भी करने पड़ते हैं। लड़ना भी पड़ता है। स्वच्छन्दता, स्वतंत्रता, गुलामी तीनों दौर से गुजरना पड़ता हैं।" 14 वर्ष की उम्र से लिखना और 1987 में अपनी पत्रिका शुरू की 'युद्धरत आम आदमी' और मैं रामविलास शर्मा जी से मिली। मेरी 16 कविता की किताबें आ चुकी हैं। दो और छप रही हैं। रामविलास शर्मा ने मुझसे पूछा, तुम कहाँ रहती हो रमणिका। मैंने कहा, 'मैं कोल फील्ड' में रहती हूँ।' तो उन्होंने कहा, 'लिखो',

गद्य लिखो। वर्णनात्मक लिखो।' तब मैंने गद्य लिखना शुरू किया यानि 84-85 के पास। मेरा पहला संपादकीय भी कविता में था। गद्य मैं लिखती रख देती थी। वो मेरी डायरियों से कविताओं को निकाल-निकाल कर दे देते थे, वही छप जाती थी। **मेरे पास संपादक के पास जाकर छपवाने का समय नहीं था।** कभी जेल, कभी आंदोलन। दो साल मैं अंडरग्राउन्ड रही, पुलिस से बचकर रही। छिप कर रही। कभी-कभी मैं कवि सम्मेलन में चली जाती थी पर समय नहीं था। तो 87 के बाद जब मैंने पत्रिका शुरू की तब मेरी कुछ चीजें छपनी शुरू हुईं और तब तक लोग मुझे इतना जान गए थे कि दिल्ली आने से पहले राजेन्द्र यादव जी से मेरा परिचय हो चुका था। जमशेदपुर में 'लघु-पत्रिका' आंदोलन जो चला उसमें तब मैं पूरे देश की उपाध्यक्ष थी राजेन्द्र जी मेरे एक मित्र थें, प्रतिनिधि थे।

राजेन्द्र जी शायद मेरे उस काम को रिकॉगनाइज करते थे, जब मैंने लोगों के लिए लड़ा और दिल्ली में आकर मुझे छपवाने का समय मिला और राजेन्द्र जी ने प्रोत्साहित किया और मेरे लेखन की सराहना की। मेरी आत्मकथा या जो भी चीज आती थीं उसका लोकार्पण वो करते थे। कमलेश्वर ने भी बहुत सराहना की और मैनेजर पाण्डेय ने भी बहुत साथ दिया... मेरे बच्चे मुझसे बहत प्यार करते हैं। मुझे प्रोत्साहित करते हैं। मुझ पर फिल्म भी बनीं, तीन, चार बनीं। एक 'आईना' नाम की फिल्म दूरदर्शन ने बनाई तो उन्होंने भी मुझसे पूछा... स्त्री मुक्ति पर सवाल पूछा। तो ये बात मेरे बच्चों को मालूम हैं इसलिए वो इस सबकी सराहना करते हैं। सब पढ़े-लिखे हैं। बहुत प्यार करते हैं। जब हम दोनों पति-पत्नी झगड़ते थे और उन्हें फोन करते थे तो वे बोलते थे कि आप दोनों के झगड़ों में हम नहीं पड़ेंगे। आप झगड़ लो। शादी के बाद अपने हसबैंड से कह दिया था कि मेरे पिताजी के पास मेरी शिकायत ले कर कभी नहीं जाओगे। और मैं तुम्हारी शिकायत तुम्हारी माँ या पिताजी के पास लेकर नहीं जाऊँगी। जो करना है आपस में करेंगे। क्योंकि हमने उनसे बिना पूछे शादी की। जो फैसला करना है, आपस में कर लेंगे। इसलिए हम आपस में लड़ते रहे आपस में मिलते रहे, मुझे याद है जब मैं जेल में थी। तो उन्होंने मुझे पत्र लिखा "जो विद्रोही होते हैं, वे सफल हो जाते हैं तो क्रांतिकारी कहलाते हैं।' और तुम्हें कोई घोंसला बाँध नहीं सकता" **मैं किसी घोंसले से बंधने के लिए बनी भी नहीं थी। इसलिए मैंने कभी किसी घौंसले में रहना स्वीकार ही नहीं किया। मैंने घौंसलों को तोड़ा, उसमें रही नहीं।**

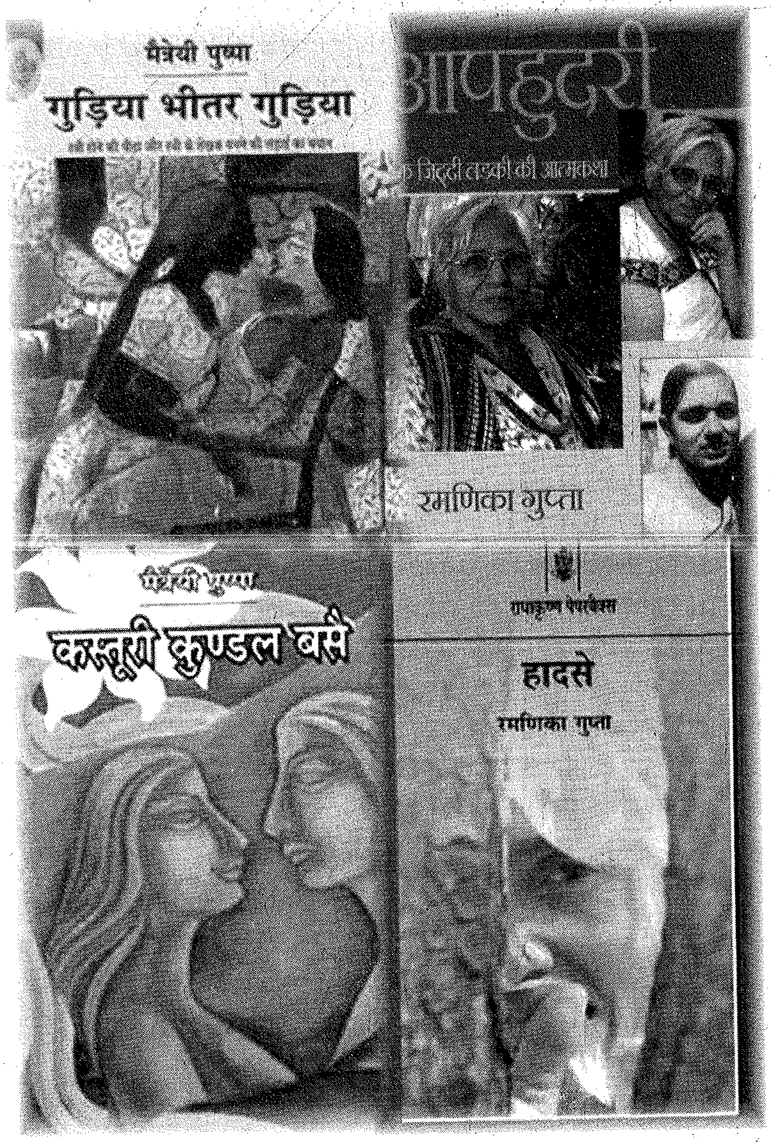


**डॉ. राजेश कुमार :-** टेकचन्द जी ने बहुत अच्छा सवाल पूछा कि आपके बच्चों ने आत्मकथा पढ़ी है? और पढ़ी हैं तो उनका रिएक्शन क्या था? आत्मकथा में जो लिखा है उसको लेकर समाज की जो प्रतिक्रिया है, वो पत्थर उठाने वाली प्रतिक्रिया है। और बच्चे तो भावनात्मक रूप से जुड़े हैं। तो वो किस रूप में देख रहे हैं, यह बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। समाज में सामान्य लोगों की बात तो छोड़ दीजिए, जो बड़े-बड़े प्रगतिशील लेखक हैं, उनको आत्मकथा के चटखारे लेते हुए अक्सर देखा जा सकता है। इतना ही नहीं हमारे इतने बड़े प्रगतिशील व्यंग्य लेखक हुए 'हरिशंकर परसाई' बहुत अच्छा उन्होंने लिखा है लेकिन आत्मकथाओं के संदर्भ में उनका नजरिया भी बहुत उदार नहीं था। जब कमलादास और अमृता प्रीतम की आत्मकथाएँ आईं तो परसाई ने कमला दास और अमृता प्रीतम की

आत्मकथाओं पर लिखते हुए शीर्षक दिया था–"एक मादा दूसरी कुड़ी" यानी वो लिखते हैं कि जब हम कमला दास की आत्मकथा पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है कि हम किसी स्त्री की आत्मकथा नहीं पढ़ रहे। एक मादा की आत्मकथा पढ़ रहे हैं। जहाँ एक टापू पर एक दो स्त्रियाँ है, दो चार पुरुष हैं, कोई समाज नहीं हैं। और खाने–पीने की चीजें आसमान से उतरती होंगी... इस तरह की प्रतिक्रिया थी। परसाई कहते हैं कि लेखिकाओं ने अपने सेक्स संबंधों का खुलासा करके इतना विस्तार से लिखकर लोगों को चौंकाया है लेकिन मुझे लगता है कि इन्होंने चौंकाया नहीं, उबाया है। अमृता प्रीतम के संबंध में परसाई ने लिखा है, 'साठ वर्ष की उम्र में भी वह 14 वर्ष की कुड़ी बनी हुई हैं। वही प्रेम और भावनाओं वाला ज्वार, वही किशोरों वाला भाव, वही हरकतें। ऐसा लगाता है कि इन साठ वर्षों के अनुभवों ने उन्हें कुछ सिखाया नहीं।' जहाँ ऐसी प्रतिक्रिया आती हैं, बुद्धिजीवियों और लेखकों द्वारा तो समाज से कितनी उम्मीद करें और आत्मकथा–लेखकों के बच्चों का मामला तो और संेसेटिव है।

चूँकि आत्मकथा लेखन में थोड़ा जोखिम है, सच लिखिए तो पत्थर खाईए। या इसे झूठ कहने का, सफाई देने का प्लेटफार्म बना लीजिए। तो अक्सर कुछ लोग उपन्यास का रास्ता चुनते हैं। क्योंकि अपने अनुभव, अपनी बातें, अपनी सच्चाईयाँ उपन्यास में भी कही जाती हैं। तो मैत्रेयी जी को याद होगा कि उनका उपन्यास 'चाक' आया और काफी चर्चित हुआ। उस पर लोगों ने कहना शुरू किया कि 'चाक' उपन्यास की जो 'सारंग' है वो कोई और नहीं, मैत्रेयी खुद हैं। उपन्यास में एक सुविधा भी है। न तो हम यह दावा कर सकते हैं कि 'चाक' की सारंग खुद मैत्रेयी पुष्पा हैं और न इस दावे को पूरी तरह खारिज कर सकते हैं। मैत्रेयी जी कह रही थीं कि उपन्यास में यह सुविधा रहती है कि पात्र को बचाने की जरूरत नहीं रहती लेकिन जब हम खुद मौजूद होते हैं तो जरूरत पड़ती है। **मेरा प्रश्न दोनों लेखिकाओं से इसी संदर्भ में है कि लेखिकाओं की आवाज जब उपन्यास और आत्मकथा में आती है तो दोनों में कितना फर्क होता है? आत्मकथा में अभिव्यक्ति कितनी सीमित हो जाती है?**

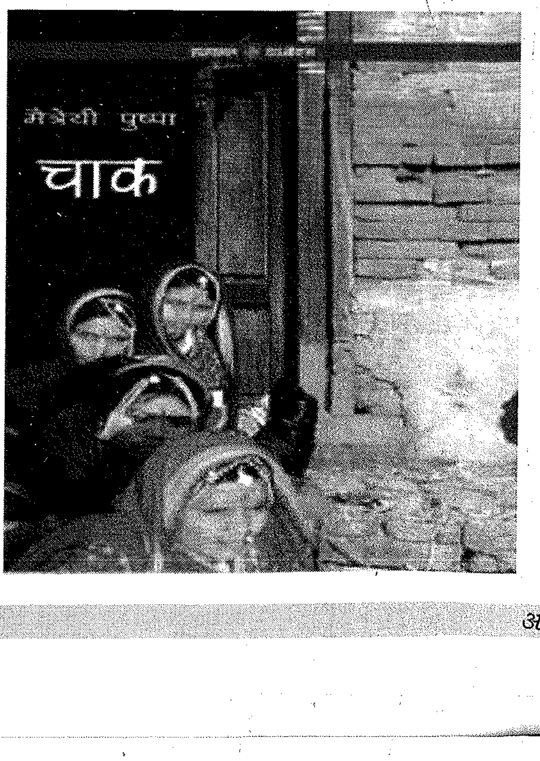


**मैत्रेयी पुष्पा :** मैंने कहा था और यह सच भी है कि हम उपन्यास में बड़ी आसानी से लिख जाते हैं। हमारा पात्र कुछ भी करता है और हम सोचते हैं कि हम बच गए, पर कहाँ बचते हैं। 'सारंग' से जोड़ दिया गया मुझे। मैंने तो उपन्यास लिखा था। आत्मकथा तो थी ही नहीं लेकिन यह भी सही है कि सारंग थोड़े ही सोच रही थी, वो तो मैं सोच रही थी। जो भी संबंध बने, जिन पर लोगों को दिक्कत है वो तो सारंग ने नहीं सोचे, सोचे तो मैंने थे और वो इसलिए सोचे थे कि जब मरता हुआ इंसान होता है तो स्त्री कहीं से भी गुजर जाती है। दोनों प्रंसग बड़े विवादित हुए। लोग आज तक कहते हैं कि तुम्हारी नायिकाएँ बहुत अश्लील हैं। मैंने कहा, हाँ हो सकती हैं, अश्लील। लेकिन उनके मकसद अश्लील नहीं हैं। वो एक ट्रीटमेंट की तरह आए थे... जब मेरी आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' आई तो लोगों की उत्सुकता थी कि क्या आएगा? राजेन्द्र जी के बारे में रमणिका जी से पूछा गया राजेन्द्र जी का मुँह कब खुलेगा? लोग मेरे और राजेन्द्र जी के संबंध के विषय में जो सोचते थे वैसा कुछ था नहीं, आत्मकथा में कैसे आता! तो लोगों ने कहा खोदा पहाड़ निकली चुहिया।

राजेन्द्र जी बहुत बदनाम थे। लेकिन उनके साथ मेरा जो अनुभव है वो अलग है। मेरे लिए वह सबसे सुरक्षित व्यक्ति थे। **मैंने रातों में उनके साथ बहुत यात्राएँ की हैं। हो सकता है वो स्त्री का मन देखकर कुछ गड़बड़ करते हों। पहल करते हों, उनके कई लोगों के साथ नाम जुड़े। लेकिन मेरे साथ नहीं जुड़ा।** मैंने उनसे पूछा कि मैं आत्मकथा लिख रही हूँ, अब हम खोल देते हैं कि हमारे संबंध क्या थे, क्योंकि छुपाने को कुछ नहीं है, बताइए ना आपका और मेरा संबंध कैसा था? उन्होंने कहा कि मुझसे संबंध पूछ रही है! जितना भी मैंने समझा। मेरा और तुम्हारा संबंध द्रौपदी और कृष्ण का है....। यही उन्होंने कहा और मैंने वही लिखा भी है। शुरू से अंत तक यही रहा। मैं कहा भी करती थी कि आप तो मेरी सहेली हो। हँसते थे। बैसाखी लेकर चलते थे। मैं उन्हें कहती थी, आप मुझे मेरे बाबा लगते हैं। तो कहते थे, डॉक्टरीन तेरा नाश हो जाए, मैं तुझे तेरा बाबा लग रहा हूँ। आपने प्रश्न पूछा कि मेरे राजेन्द्र जी के साथ संबंध कैसे रहे? आपने प्रश्न किया कि हम उपन्यास में लिख लेते हैं। वो आत्मकथा में लिखना मुश्किल होता हैं। जब कलम हाथ में आती है तो ईमानदारी लेकर आती है। मेरा कहना है कि कलम हाथ में आती है वह हम नहीं लिख रहे होते हैं। कलम लिख रही होती है मैं बार बार अपनी चीज पढ़ती हूँ तो ताज्जुब करती हूँ कि ये मैंने लिखा है! मैं ऐसा नहीं लिखती तब हम पर कलम हावी हो जाती है। इसलिए तलवार से ज्यादा असरदार कलम को माना गया है। क्योंकि वो लेखक के ऊपर हावी होती है। मैंने आत्मकथा और उपन्यास बराबर ईमानदारी से लिखे हैं।

**रमणिका गुप्ता :-** मैं दो शब्दों में बात कहना चाहूँगी, मेरे ऊपर कभी कोई रोक नहीं लगी, मैंने कोई सीमा नहीं देखी। मैंने सीमाओं को तोड़ा है। लेखन में भी और रिश्तों में भी। मेरे रिश्ते रहे, मैंने कोई विश्वासघात नहीं किया। क्योंकि मैं विश्वासघात शब्द को मानती नहीं। आप निभाते हैं रिश्ते, समाज के दायरे में, तो विश्वासघात नाम की चीज नहीं होती। मैंने कभी झूठ नहीं लिखा। जिन संबंधों पर लिखने का साहस पहले नहीं जुटा पाई, उन पर बाद में लिखा। उस समय मैं नहीं हिम्मत रख पाई, जब ये आत्मकथा लिखी तो मैंने हिम्मत करके फैसला किया कि सब सच लिखना है तो मैंने उसमें लिखा और राजेन्द्र जी के बारे में तो बता ही दिया।

**डॉ. राजेश कुमार :** धन्यवाद। अब हम आपके प्रश्न शामिल करके मंच का विस्तार कर रहे हैं। आप सभी के प्रश्न आमत्रिंत हैं।

**श्री आशुतोष पाण्डेय :-** बहुत-बहुत शुक्रिया। एक अच्छा वातावरण बना हुआ है। जिन लेखिकाओं की आत्मकथाओं को हम पढ़ते रहे। उन लेखिकाओं से सीधे साक्षात्कार हो रहा है। मेरे दो-तीन सवाल हैं और दोनों लेखिकाओं से हैं। पहला रमणिका मैम से : ये विश्वासघात वाली बात मुझे समझ नहीं आई। मेरे साथ तो कई विश्वासघात हुए हैं। इसे आप एक बार फिर से एक्सप्लेन करेंगे तो हमारे विद्यार्थियों के लिए भी अच्छा रहेगा। क्योंकि प्रेम में विश्वासघात बहुत होता है। और दूसरी बात, आपका जीवन तो हादसों से भरा हुआ है। इतना साहस इतनी जिजिविषा कहाँ से आई? आपने कैसे इतना साहस रखा?

और मैत्रेयी मैम से प्रश्न है कि धर्मवीर भारती के उपन्यास 'गुनाहों का देवता' से जो प्रेम की बयार बही उसने एक सिरहन पैदा की। वह सिहरन इस रूप में कि उन्होंने लिखा, जिससे प्रेम करो उससे शादी मत करो, जिससे शादी करो उससे प्रेम मत करो। तो आपके जीवन में जो ये प्रेम और शादी वाला प्रकरण है। यह प्रकरण आपका निजी मामला है या इस दर्शन को आप आगे ले जाने की बात करती हैं? आपके विचार-थैंक्यू।

**रमणिका गुप्ता :** देखिए, आपके दो प्रश्न थे मेरे लिए पहला प्रश्न-विश्वासघात और दूसरा प्रश्न साहस से संबंधित है।

विश्वासघात लेन-देन में, सामाजिक क्रिया में होते हैं। ये मैंने पहले भी कहा। प्रेम का जहाँ मामला है वह थोड़ा अलग है। अगर आप किसी से प्रेम कर रहे हैं और प्रेम न रहे। फिर आप प्रेम का नाटक करें। करते रहें। उस नाटक से तो अच्छा है रिश्ता तोड़ लेना। प्रेम एक नाजुक मामला है। दो लोगों का प्रेम है। जब यह नहीं रहा तो नहीं रहा। या तो आप रिश्ते निभाते हैं या वायदे निभाते हैं, प्रेम नहीं निभाते। प्रेम नाम की चीज को एक दायरे में कायम नहीं कर सकते। रिश्ते में विश्वासघात करते हैं। फायदे में विश्वास करते हैं। लेकिन प्रेम नहीं रहा तो नहीं रहा। अब उसे जबरदस्ती प्रेम करवाईए संभव नहीं है। तो वो नाटक होगा क्योंकि हमें रिश्ता निभाना है। इससे बेहतर है कि कहो अब प्रेम नहीं है। प्रेम है तो पूर्ण समर्पण से करो। दोनों का समर्पण होगा एक दूसरे के प्रति, किसी एक का नहीं होगा। अगर नहीं है तो ईमानदारी से कहो अब प्रेम नहीं है और अलग हो जाओ। ये मैं सही मानती हूँ। फालतू निभाते रहने के लिए झूठ मत बोलो।

दूसरा मुझे हौसला कहाँ से मिला। देखिए मुझे समाज ने बनाया है। जब समाज आप पर इतनी सारी बंदिशें लगा देता है, तो कहीं रास्ता निकालने के लिए जो प्रयास करता है, उसको हौसला जुटाना पड़ता है। इतनी बंदिशें थीं हमारे समाज में। ऊपर से आजादी और भीतर से बंदिश। बचपन में जितना कुछ झेला, बचपन में दैहिक शोषण होता था। मैं बोलती थी तो कोई विश्वास नहीं करता था। जब मैंने शादी के बाद पिता जी के सामने मास्टर जी की बात रखी, तब उस मास्टर को घर से निकाल दिया गया। ये पहले भी निकाला जा सकता था, तो ये मेरे दिमाग में आया कि सच बोलने से ही बात बनती हैं। सच बोलने से हौसला भी बढ़ता है। आप सच बोलिए। गलत किया है तो गलती स्वीकार कीजिए। और नहीं किया है तो कोई फाँसी भी चढ़ा दे तो मत मानिए।

**मैत्रेयी पुष्पा:-** "जिससे प्रेम करो, उससे शादी मत करो।" मैं कई बार कहती हूँ इस बात को। कई जगह तो विरोध हुआ। जयपुर में लोग गुस्सा हो गए कि आप लड़कियों को क्या सिखा रहीं हैं। मैंने कहा, मैं नहीं सिखा रही। मैं एक बात कह रही हूँ कि अगर प्रेम होता है और हम शादी के लिए अड़ जाते है। लड़का अड़ जाता है कि हमें जिंदगी भर साथ रहना है और हम जिस दिन से पति पत्नी बनते हैं, उस दिन से हम प्रेमी-प्रेमिका नहीं रह जाते हैं और न हमारा व्यवहार रह जाता है वो। हम पति-पत्नी होते हैं और गृहस्थ की गाड़ी खीचतें हैं। सामाजिक ज़िम्मेदारियों को निभाते हैं। प्रेम में ऐसी कोई बात नहीं होती। लड़ाई भी होती है तो होते-होते तलाक तक पहुँच जाती है, प्रेम में तलाक भी नहीं होता। तो यह चीज है। प्रेम सिर्फ प्रेम हो सकता है। लेकिन विवाह में 'सेक्स' शामिल होता है। जब हम सेक्स शामिल करते हैं तो गड़बड़ी होने लगती है। सेक्स का तो पति का अधिकार है। सेक्स की स्वीकृति हमें तभी मिलती है, जब हमारी शादी होती है। इसीलिए प्रेमी लोग शादी करना चाहते हैं। तो ये क्यों कहते हैं कि हम विवाह करेंगे, कहें कि हम सेक्स करेंगे। ये क्यों कहते हैं हम प्रेम करेंगे। प्रेम तो हम कर ही रहे हैं, प्रेम करने के लिए किसने मना किया है। जैसा कि मैंने आपसे कहा कि चिठ्ठी वाले लड़के से मुझे भी प्रेम हो गया था। लेकिन मैंने उससे शादी नहीं की। मैं उसकी प्रेमिका आज भी हूँ। मैं अपने पति की पत्नी आज भी हूँ। मैंने अपने पति से कभी बेईमानी नहीं की। मैंने कभी भी विवाहेतर संबंध नहीं बनाए। विवाहेतर-संबंधों में मेरा विश्वास नहीं। प्रेम हुआ तो पति से। हम एक साथ रहते हैं, तो लगाव हुआ। मेरे लिए घर जरूरी था। **मैं उस चिड़िया को इंसानियत की सबसे बड़ी संदेश देने वाली मानती हूँ, जो घोंसला बनाती है। मुझे घर चाहिए था इसलिए मैंने कभी घर तोड़ने की बात नहीं की।** मैंने रास्ते निकाले। स्वतंत्रता के रास्ते निकल सकते हैं। ईमानदारी से ये रास्ते निकाले।

जब मैं शादी करके आई थी तब मेरे पास 'कामायनी' 'उद्धव शतक' और उसका प्रेम-पत्र ये तीन चीजें थीं और मैंने पति को तीनों चीजें दिखाई थीं। जब दहेज देखा जा रहा था 'कामायनी' रखी थी, वो किसी को समझ नहीं आया कि ये किताब क्यों आई है। लोगों को लगा कि हमारे पास थोड़ी सी खेती है तो कागज आए होंगे। इकलौती लड़की है। मेरे पास वह तीनों ही चीजें थी और मैंने बता दिया था। जैसे कि लड़के कहते हैं कि वो लड़की हमारे पीछे बहुत थी भाई। वह हमसे बहुत प्रेम कर रही थी लेकिन शादी हमने तुमसे की है। मेरे पति भी कह रहे थे कि वह ऊषा ना, रो रही थी, जब तुमसे शादी की। तो मैंने कहा मुझसे शादी क्यों की? अच्छा वो रो रही थी। तो मैंने कहा, लाए तो हम भी हैं, हमारा भी देख लो, चिठ्ठी कविता में है प्रेम-पत्र। वह बहुत समझदार आदमी हैं। उन्होंने नहीं कहा कि तूने ऐसा क्यों किया। तू बेवफा निकली। तूने शादी का अपमान किया है। ऐसा कुछ नहीं कहा। बल्कि हँसे और दूसरे दिन गिफ्ट लाए। मैंने देखा 'गिफ्ट' वह एक पेन सेट था। मैंने सोचा कि मुझे कोई साड़ी देते, जेवर देते पति तो यही देते हैं तो मैंने पूछा ये क्यों लाए तो उन्होंने कहा 'हमें भी लिखना प्रेम पत्र'। प्रेम एक कोमल भावना है। यह सोचते हुए भी बहुत अच्छा लगता है। इसे नष्ट मत करो।

**डॉ. राजेश कुमार :-** प्रेम-पत्रों के बारे में जितना विस्तार से आपने बताया, शरद जोशी की टिप्पणी याद आ गई। शरद जोशी लिखते हैं-प्रेमिकाओं के प्रेम पत्र: 'तुमने मुझे जो प्रेम-पत्र लिखे या मैंने जो तुम्हें पत्र लिखे, इन प्रेम-पत्रों में जो वायदे हमने किए। वो ऐसे भुला दिए जैसे राजनीतिक पार्टियों के नेता भुला देते हैं, न वादे तुमने निभाए न मैंने निभाए। मेरे लिखे प्रेम पत्रों को चूल्हे में जलाकर तुमने चाय बनाई और चाय अपने पति को पिलाई और जो तुमने मुझे प्रेम पत्र लिखे उनमें से मैंने कहानियाँ निकाल ली और उस पर रॉयल्टी पाई।'

हालांकि मैत्रेयी पुष्पा कहती हैं कि उनको जो प्रेम पत्र मिले वो चूल्हे में जलाकर पति को चाय नहीं पिलाई बल्कि उन्होंने भी कहानियाँ निकालना सीख लिया था। उन्होंने साबित किया कि जैसे पुरुष प्रेम-पत्रों से कहानियाँ निकाल कर रॉयल्टी खाते हैं वैसे ही उन्होंने किया। जिस समय मैत्रेयी जी के जीवन में प्रेम की घटना घटी है मैत्रेयी जी के लिए थोड़ा मुश्किल है उसका सामना करना। दरअसल जब अपने प्रेम की बात है तो निर्णय खुद लेना है। और निर्णय लेने के बाद चीजें सहजता से निकल गईं लेकिन मैत्रेयी जी की बेटी जो कि खुद डॉक्टर है, एक आधुनिक लड़की हैं, आत्मनिर्भर है अपने फैसले खुद लेती हैं। जब उनके प्रेम की बात पता लगती है तो परिवार में सबसे पहले कटाक्ष करने वाली मैत्रेयी जी खुद हैं। और वह खुद नहीं समझ पातीं ऐसा रिएक्शन क्यों है? एक माँ के नाते! अपने अनुभवों और अपने प्रेम को शायद वह उस समय भुला देती हैं और वहाँ कहीं न कहीं किंतु-परंतु' लगाना शुरू होता है। हालांकि वह 'किंतु-परन्तु' लगाने के लिए पति का सहारा लेती हैं। दूसरी बेटी से कहती हैं कि शायद तुम्हारे पापा उसके लिए तैयार नहीं होंगे। जब बेटी की तरफ से सफाई मिलती है कि वह इतने कंजरवेटिव तो नहीं हैं क्योंकि जब बड़ी बेटी का रिश्ता आया वह 'अग्रवाल' था। इस रिश्ते को बेटी के पिता ने सहजता से स्वीकार कर लिया। जब छोटी बेटी का प्रेम का मामला आया तो स्वयं मैत्रेयी जी को जाति याद आ गई। उन्हें अग्रवाल तो स्वीकार था लेकिन दलित को कैसे स्वीकार करें? कहीं बीच में जाति भी आ जाती है। इसको मैत्रेयी जी छुपाती नहीं हैं, ईमानदारी से लिखती हैं कि जब वह प्रस्ताव आया और उनकी बेटी ने कहा कि वह नवल से ही शादी करेंगी तो वहाँ वह अपनी बेटी से पूछती हैं कि उस लड़के की जाति क्या है? वह कहती है, बताया नहीं। रंग से जाति का अंदाजा लगाती हैं। ऐसा नहीं है कि यह मैत्रेयी जी का व्यक्तिगत मामला है, वह उस समाज का हिस्सा हैं। वह भावी दामाद को जा करके समझाती हैं कहती हैं, "बेटे अभी प्रेम-प्रेम कर रहे हो, शादी हो जाएगी तो रह जाएगा नोंन तेल का खेल, प्रेम-प्रेम नहीं होगा।" उनका दामाद बहुत सुलझा हुआ व्यक्ति है, नवल की समझदारी के आगे मैत्रेयी जी का दर्शन काम नहीं आता। जब वह नवल को दामाद के रूप में स्वीकार करती हैं तो उसका महिमामंडन भी करती हैं। जब आप 'नवल' की तारीफ कर रही हैं, वहीं एक टिप्पणी आती है, अचानक से। हालांकि उसकी जरूरत नहीं थी। आप लिखती हैं कि आपका दलित दामाद वह कितना आत्मविश्वासी है, वह कितना प्रतिभाशाली है। जैसे एक हीरे को परख रही हों। यहाँ तक ठीक है लेकिन जब दलित आत्मकथाओं के संदर्भ में बात करती हैं तो एकतरफा टिप्पणी करती हैं, 'जब मैं दलित आत्मकथा पढ़ती हूँ तो किनता हीनताबोध है। आज़ादी के 60 साल हो गए। आरक्षण मिला सब कुछ हुआ। लेकिन क्या बदला?' तो ये टिप्पणी मुझे थोड़ा गैर जरूरी लगी और उस टिप्पणी पर मैंने एक टिप्पणी की थी अपने लेख में कि:

'उस समय मैत्रेयी पुष्पा एदल्ला को याद रखतीं तो शायद ऐसी टिप्पणी नहीं आती। क्योंकि अगर एदल्ला लिख रहे होते तो वह ओमप्रकाश वाल्मीकि होते सूरजपाल चौहान होते'। और उनके जो अनुभव हैं, वह क्यों इतने कटु हैं? उनमें हीनताबोध है? आज अगर लेखिका एदल्ला को याद करें तो उन्हें ये भी याद आ जाएगा कि अपनी पहचान एदल्ला चमार के रूप में उसने स्वीकार नहीं की। उसने स्वयं को एदल सिंह के रूप में प्रस्तुत किया, जाट-बनियों के लड़कों से मार खाकर भी। अपना नाम एदल सिंह रखना भी एक दलित बालक का प्रतिरोध है।'

प्रश्न है कि दलित आत्मकथाओं में मैत्रेयी जी ने कुण्ठाओं के अलावा शायद इस प्रतिरोध को नहीं देखा! आज एदल सिंह आत्मकथा लिखेगा तो क्या लिखेगा? यही न कि मैत्रेयी पुष्पा का हीरो एदल सिंह जाट बनियों के लड़कों से कैसे मार खाता था और उनकी गाली गलौज सुनता था, लंच के नाम पर खट्ठा मठ्ठा पीता था। कुछ दिन तक उसकी हिरोइन मैत्रेयी अपने घर से गुड़ चुरा कर उसकी खट्ठी छाछ को मीठा बनाती रही, इसके बदले में

उसके दादा एदल सिंह और उसके पुरखों को गालियां बकते रहे और लेखिका की प्रेरणास्रोत दादी उन गालियों को सही ठहराती है, 'अच्छा तू ही घर का गुड़ इन बाप बेटों को खिला रही है। तेरे बाबा झूठ नहीं कह रहे थे सारे ढेढ़ गुड़ खा गए, मैं समझी ढेढ़ कौआ को कह रहे हैं।' यदि मैत्रेयी जी को यह प्रसंग याद रहे तो मुझे नहीं लगता कि दलित आत्मकथा लेखन पर उन्हें किसी और टिप्पणी की आवश्यकता है।

**मैत्रेयी पुष्पा :** मैंने कहा न कि मैं इस मायने में एक पत्नी थी, माँ थी। मैं आप लोगों से कह रही हूँ कि प्रेम करो शादी मत करो, लेकिन मेरी बेटी का आग्रह था शादी। तो मैंने कहा जिस घर में हम हैं, तुम्हारे पिता हैं, वो एक ब्राह्मण का घर है और जहाँ इंटरकास्ट मैरिज तक नहीं हुई। लड़का दलित है, तो हम कैसे कहें अपने पति से कि ये शादी होगी ही होगी।

पूरा बवाल खड़ा हो जाएगा। मैं बस उसके लिए चिंतित थी। मैं आत्मकथा में भी लिखती हूँ कि मैं लेखिका होकर भी ऐसा क्यों सोच रही हूँ! मैं खुद से प्रश्न करती हूँ। शायद आपने पढ़ा होगा। लेखिका होकर ऐसा क्यों सोच रही थी! मेरे चेतन में ये दबाव था मेरे अचेतन में कि मैं किसकी पत्नी हूँ? मैं किस खानदान में हूँ? मैं किस घर की बहू हूँ? मैंने दोनों से कहा तुम शादी मत करो। मैंने नवल से भी कहा कि क्या शादी जरूरी है? तो उन्होंने कहा, आंटी बिल्कुल जरूरी नहीं है। यदि आप लोगों को दिक्कत हो तो हम कैसे खुश रह सकते हैं? उन्होंने वह कहा जो 'वीर-जारा' फिल्म में शाहरूख खान कहता है। तब मेरा दिमाग पलट गया, तब मैंने अपने पति से कहा अपने बड़े दामाद से मिलकर कि हम ये शादी करेंगे वरना लड़की कहेगी कि जाति की वजह से मेरी शादी नहीं हुई, बड़े मॉर्डन बनते थे। यह शादी होगी तुमको शामिल होना हो तो हो जाना। हम ये शादी अपनी बड़ी बेटी के घर से कर देंगें। यहाँ से नहीं करेंगे। जब हम सब कहने लगे तो वो भी तैयार हो गए और सुजाता से पूछा कि तुम्हें अपने नाम का मतलब मालूम है? जब शादी की बात चल रही थी तो नवल के पापा ने पूछा कि क्या तुम अपने नाम का मतलब जानती हो? अपने बेटे से कहा क्या तू जानता है कि तू किससे शादी करने की बात कर रहा है? वह बहुत समझदार व्यक्ति हैं। मैं आज कहती हूँ कि मुझे न ऐसा दामाद मिलता। और न ऐसे समधि मिलते। इतने अच्छे मॉर्डन विचारों के। मेरी सुजाता को वहाँ कोई भी तकलीफ नहीं हुई।

मैं सोच रही थी, मेरी दो लड़कियों की बेकार ही ब्राह्मणों में शादी हो गई। ऐसा नहीं होना चाहिए था। मैं ब्राह्मणों में नहीं रही हूँ, मैं शादी होकर ही ब्राह्मणों में आई हूँ। मैं यादवों में रही हूँ, मेरा पालन-पोषण यादवों में ही हुआ है। मैं ये जाति वाति नहीं जानती थी। मेरी माँ तो बिल्कुल नहीं जानती थी। लेकिन इस लड़की के चक्कर में ये जाति का चक्कर पड़ा। आप इस समाज का क्या करेंगे? जब शादी हो गई तो इतने टोंट हम पर पड़े। तो मैं बच्चों के आगे खड़ी हो जाती थी कि बच्चे न सुनें सिर्फ मैं सुनूँ। मेरी बेटी ने नवल से कहा, आज से न तुम्हारी कोई जाति न मेरी कोई जाति। आज हम ये संकल्प लेते हैं। उसके दो बच्चे हैं, एक अल्मा है और एक लड़का है सितार। अब शादी के बाद मैं उससे पूछती हूँ कि क्या अब भी नवल वही प्रेमी लगते हैं? तो वह जवाब देती है मम्मी बिल्कुल नहीं लगता, अब तो पति ही लगते हैं, मुझे। मैंने इसलिए कहा था मत कर शादी। शादी के बाद सभी प्रेमी पति बन जाते हैं।

**छात्र-१ :-** आज स्वच्छन्दतावादी नारी होना कितना सार्थक है? अभी एक मूवी आई है 'लव गेम्स' उसमें इस चीज को उठाया भी गया है। आपकी क्या राय है?

**रमणिका गुप्ता :** क्या सवाल था आपका?

**डॉ. राजेश कुमार :** इनका सवाल वैसा ही है, जैसी टिप्पणी परसाई ने की थी कमला दास के संदर्भ में कि इनकी आत्मकथा पढ़ कर लगता है कि यह एक औरत की आत्मकथा नहीं है यह एक मादा की आत्मकथा है। वैसे ही आपने 'आपहुदरी' में जिन यौन संबंधों का खुलासा किया है। विवाह से पूर्व, विवाह के बाद। इन संबंधों को समाज कहाँ तक स्वीकार करेगा? फिल्म का उदाहरण दिया है कि यह स्वच्छन्दता कितनी सार्थक है?

**रमणिका गुप्ता :** दो प्रश्न हैं, मैंने वह फिल्म देखी नहीं, तो मैं उस पर चर्चा नहीं करूँगी। दो सवाल हैं एक तो समाज के स्वीकार करने की बात होती तो मैं ही नहीं होती। समाज किस को स्वीकार करता है? समाज स्वीकार करता है बाद में, शुरू में नहीं करता है। जब कोई दावा ठोककर आगे बढ़ता है, तो पहले समाज गाली देता है विचारधारा को। जब नहीं मानता तो मारता भी है, पत्थर फेंकने की कोशिश करता है। फिर भी नहीं मानता तो वह उसे नकारता है। फिर भी नहीं मानता तो देवी-देवता बनाकर मंदिर में बिठा देता है, हिन्दू समाज। आपने अंबेडकर को नहीं माना। अब उनकी जयंतियां मना रहे हैं। मैं समाज नहीं मानती। समाज की चिंता नहीं करती। मैंने जो लिखा। जो लोग मुझे मानते थे जिस समाज को मैं मानती थी, वो किसानों का मजदूरों का जनजातियों का समाज है, जो अपनी समस्याओं में झूल रहा है। और वहाँ वह बंदिशें नहीं हैं, जो यहाँ के तथाकथित समाज में। जनजातियों में एक औरत चाहे तो पति को छोड़ सकती है और चाहे तो दूसरे मरद के साथ रह सकती है, वो रिश्ते बदल सकती है। वहाँ तलाक भी मुश्किल नहीं होता है। पांच दिन रामायण का पाठ कराओ तलाक हो गया। फिर जुड़ना है तो पाठ कराओ सुलह हो गई। जिसको निम्न वर्ग कहते हैं, मैं उसे 'पुखराज' मानती हूँ। मैं उन निम्न वर्ग के बीच में ही रहती रही हूँ, उन्हीं के साथ झोंपड़ों में रहती थी तो मुझे उनके समाज में कोई दिक्कत नहीं हुई। स्वच्छन्दता का मतलब जो आपके मन में आए करो। सुखी रहिए। और समाज के जो नियम गलत हैं उनके दवाब में आकर कुछ बात मत मानिए। मेरे भाई ने एक बार मुझे लिखा था, जब मैंने तलाक देने की सोची थी कि तलाक देकर दूसरी शादी करूँगी तो उन्होंने मुझे लिखा था कि तुम कभी अपराध बोध से पीड़ित मत होना। हीन भावना से पीड़ित मत होना। तुम्हें शादी करनी है, करो। पर शादी करके तुम्हें कुछ करके दिखाना है, इसलिए मत करो या फिर अपराध बोध

मत मानो। आप लोग करते हैं अपराध बोध नहीं मानते, अगर खुद अपराधी मानते हैं तो मत कीजिए। अंततः समाज आपको स्वीकारेगा। अगर आपमें क्षमता है, अपने आपको स्वीकार्य बनाने की।

**डॉ. टेकचंद :** धन्यवाद रमणिका जी, आपने बात की चरित्र की, तो चरित्र का मतलब आपका सेक्सुअल रिलेशनसिप अथवा पर्सनल फीलिंग नहीं होती। चीजें हैं चरित्र का मतलब अपने समाज और परिवार के लिए लिया गया फर्स्ट स्टेप कोई किया गया काम वो चरित्र है, परिवार के लिए जिसमें आप जन्मे हैं? आपने उनके लिए क्या स्टैण्ड लिया कैसे खड़े हैं। आपका चरित्र है। न कि आपकी निजी बातें वह आपका चरित्र है। वह आपकी अपनी हैं। समाज के साथ उसका कोई लेना देना नहीं है। मुझे रमणिका जी की बात से एक बल मिला।

**डॉ. राजेश कुमार :** दरअसल इसी संदर्भ में किशन पटनायक ने कहा था कि 'हमारा जो समाज है, वो चरित्र को केवल यौन से नापता है। यानि कौन व्यक्ति यौन संबंधों में कितना ईमानदार है कितना बेईमान है? इससे तय होता है उसका चरित्र। जबकि पैमाने इससे बड़े हो सकते हैं। किशन पटनायक कहते हैं कि मान लिजिए एक नेता यौन संबंधों में बहुत ईमानदार है। शिष्टाचार के मामले में बहुत अच्छा है। पर वह देश की सुरक्षा से समझौता करता है जनता को धोखा देता है, घोटाले करता है। दूसरी तरफ एक नेता के विवाह-पूर्व के अथवा विवहेतर प्रेम-संबंध अथवा यौन संबंध हैं। तो कौन सी चीज ज्यादा खतरनाक है? समाज के लिए कौन घातक है? देश की सुरक्षा से समझौता करने वाला नेता या यौन संबंध रखने वाला?

**रमणिका गुप्ता :** मैं एक और जमीनी उदाहरण देकर बताना चाहती हूँ, हमारे यहाँ शराबी लोग पड़ा रहता है और कुछ बिल्कुल शराब को छूता नहीं है। ऐसे लोग दो जन हैं। आपके बीच में एक आदमी घायल होकर सड़क पर पड़ा है। शराबी आता है घायल को उठाता है, जात नहीं पूछता, उसकी मदद करने के लिए अस्पताल ले जाता है और वो आदमी जो एकदम चरित्रवान व्यक्ति है शराब नहीं पीता वह आदमी मुँह पर रूमाल रखकर चला जाता है। कौन अच्छा है? कौन नैतिक है?

**श्री आशुतोष पाण्डेय :-** स्वच्छन्दतावाद की कड़ी में दो छोटे-छोटे सवाल हैं कि स्वच्छन्दवादी व्यक्ति में और क्रान्तिकारी व्यक्ति में आप क्या कोई अंतर मानती हैं? यदि स्वच्छन्दवादी व्यक्ति और क्रांतिकारी व्यक्ति में फर्क है तो स्वच्छंदतावाद की रक्षा होगी कैसे? या तो हम स्वयं की जिम्मेदारी लें या हम कानून की शरण में जाते हैं तो स्वच्छन्दता नहीं रह जाती फिर उसे स्वतंत्रता का नाम देगें या कुछ और? आपके विचार--

**डॉ. टेकचंद :** इससे संबंधित और सवाल हों तो वो भी एक साथ ले लेते हैं।

**छात्र :-** मेरा सवाल है कि यू.आर. अनन्तमूर्ति ने एक उपन्यास का हिन्दी में अनुवाद किया है, उसमें एक पात्र है, 'शास्त्री जी'। उनका अलग-अलग स्त्रियों के साथ संबंध (अफेयर) है लेकिन वह उनसे शादी नहीं कर पाते एक और है गंगू बाई उनके भी शास्त्री जी और अन्य पुरुषों के साथ भी शारीरिक संबंध रहते हैं लेकिन उनकी शादी नहीं हो पाती। तो मैं यह कहूँगा कि आज की जो पीढ़ी है उनके बीच प्रेम को लेकर सेक्सुअल संबंध बनते हैं तो इस मामले में आपकी क्या राय है।

**रमणिका गुप्ता:** देखिए सेक्सुअल संबंध और प्रेम दो अलग चीजें हैं। आपका आकर्षण होता है। आकर्षण पहली चीज होती है। किसी के प्रति आकृष्ट होना लगाव होना, तब प्रेम पनपता है। अब उसके बाद सेक्सुअल संबंध की बात करते हैं। भाई-बहन से भी तो प्रेम का रिश्ता होता है न। सेक्सुअल संबंध तो नहीं होते। पिता-पुत्री का भी प्रेम होता है न। हालांकि पिता भी आज जेल में है बेटी से सेक्सुअल संबंध रखने के जुर्म में। किसी जमाने में यह बंदिश नहीं थी, समाज ने इन बंदिशों को बनाया। अगर आपका संबंध प्रेम है किसी से सच्चा। तो उससे सेक्सुअल संबंध से मतलब नहीं होता, अगर प्रेम में सेक्स संबंध भी हो गया तो हो गया। उसके लिए हाय तौबा मचाने की क्या जरूरत है? सेक्स को हमने केन्द्र बिन्दू बना दिया है। जबकि नहीं बनना चाहिए।

दूसरा सवाल स्वच्छन्दता और क्रान्तिकारी। देखिए क्रान्तिकारी विरोध करता है, विद्रोह करता है। वह एक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह करता है और स्वच्छन्दता का सवाल अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बात है। क्रान्तिकारी के साथ उद्देश्य जुड़ा होता है। स्वच्छन्द व्यक्ति का रिश्ता क्रान्ति से जुड़ जाए तो और ज्यादा बढ़कर होगा।

वह राह तोड़ने की हिम्मत रखता है तो और ज्यादा बढ़कर होगा। क्रान्तिकारी नियम नहीं मानते जो आप कहते हैं क्रान्तिकारी नियमों को तोड़ता है। नियम कानून में आ जाता है। क्रान्तिकारी नई परिपाटी बनाता है स्वच्छंदता वाला भी उस राह में चल जाए तो क्रान्तिकारी बन सकता है। जल्दी बन सकता है।

**डॉ. राजेश कुमार :** अब मैं इस कार्यक्रम के समापन के लिए अपने विभाग के सदस्य श्री आशुतोष पाण्डेय जी को आमंत्रित करता हूँ कि वो धन्यवाद ज्ञापन करें।

**श्री आशुतोष पाण्डेय :** आदरणीय मैत्रेयी पुष्पा मैम, रमणिका मैम आप दोनों ने यहाँ आना स्वीकार किया। बहुत दिनों का ख्वाब पूरा हुआ। ऐसा लगा सुबह हो गई। बार-बार हम अंधेरों से बाहर आए, पर पूरी तरह जीत नहीं पाए लेकिन जब भी आप लोगों को हम कहीं से भी पढ़ते हैं याद करते हैं तो लगता है जीत जाएगें और हम सब में, शिक्षकों में विद्यार्थियों में आपके आने से एक जज्बा पैदा हुआ। धन्यवाद।

**प्रस्तुति : ज्योति, बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी, तृतीय वर्ष**

# व्याख्यानमाला
## प्रतिबिम्ब
## हिन्दी साहित्य सभा, सत्यवती कॉलेज

**'भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी भाषा व संस्कृति के सरोकार'**

**प्रो. गिरीश्वर मिश्र ( कुलपति, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र )**

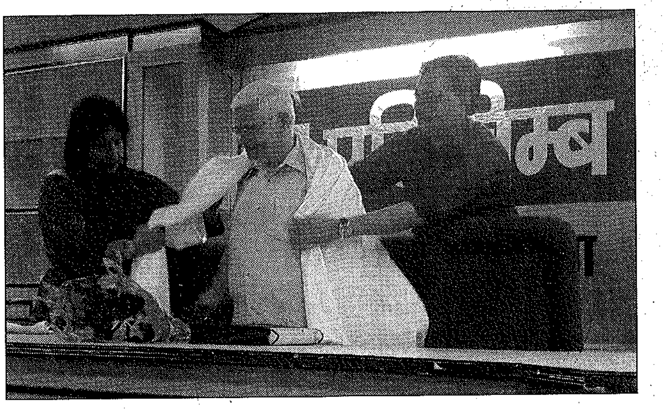

हिन्दी विभाग के सुधी प्राध्यापक गण एवं विद्यार्थियों मेरे लिए सौभाग्य का विषय है कि युवा मानस के साथ संवाद करने और भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी भाषा व संस्कृति के सरोकार विषय पर व्याख्यान हेतु मुझे आमंत्रित किया। इसके लिए आभार प्रकट करता हूँ।

जो विषय हमारे सामने रखा गया है वह अत्यंत व्यापक है और उस पर लंबी चर्चा भी हो चुकी है और आगे भी होती रहेगी। मैं संक्षेप में कुछ बिदुओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। हम लोग एक समाज के रूप में निरंतर भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तनों से गुजरते रहे हैं। बहुत दिन नहीं हुए जब भारतवर्ष अंग्रेज़ी शासन का उपनिवेश था और उस उपनिवेश के दौरान हम लोगों के ऊपर पश्चिमीकरण को थोपा गया और एक समीकरण बना दिया गया कि पश्चिमीकरण बराबर आधुनिकता बराबर विकास। यह रास्ता हमारे लिए रखा गया और हम उस रास्ते पर चल पड़े। फिर हम लोगों ने नेहरू जी के नेतृत्व में समाजवादी दृष्टि से विचार करना शुरू किया। तरह-तरह के और बदलाव आए। एक दौर था जब स्वदेशी और स्वराज की परिकल्पना महत्त्वपूर्ण विचार थे। महात्मा गांधी और बिनोबा भावे महत्त्वपूर्ण विचारक थे। धीरे-धीरे सार्वभौमिकता के आतंक में ये विचार हाशिये पर चले गए। 1934 ई. में के.पी. भट्टाचार्य ने एक लेख लिखा था-'स्वराज इन आईडियाज' यानी विचारों में स्वराज। उनका मानना था कि विचारों की स्वतंत्रता भी एक किस्म का स्वराज है। विचारों की दासता स्वराज नहीं है। हमने इस बात पर ध्यान दिए बिना पूरी की पूरी वैचारिकता पश्चिम से उधार ले ली। शिक्षा पद्धति में भी हमने मैकाले की शिक्षा नीति का अंधानुकरण किया। हमारा मनोविज्ञान-विभाग शताब्दी वर्ष मना रहा है लेकिन उसकी सारी पद्धतियाँ पश्चिमी देशों से आयातित हैं। जब अंग्रेज आए तब इंग्लैंड से बेहतर शिक्षा भारत में थी। उनसे अधिक पढ़े-लिखे लोग थे लेकिन जब अंग्रेज़ यहाँ से गए तब निरक्षर लोगों की संख्या बढ़ाकर गए। इस तरह हमने एक वैचारिक दासता स्वीकार कर ली। आधुनिक होने की शर्त यही थी कि आप भारतीय परंपरा व संस्कृति का तिरस्कार करें। हमारे पास शिक्षा व संस्कृति का एक विशिष्ट ढाँचा पहले से मौजूद था-इसका प्रमाण है-हमारी भाषा की वैज्ञानिकता। दूसरा उदाहरण है-आयुर्वेद। आयुर्वेद में मनुष्य और प्रकृति के बीच परस्पर निर्भरत बनी रहती है। यहाँ एक व्यापक जीवन दृष्टि थी, जिसमें सबकी सहभागिता व पूरकता को स्वीकार किया गया था।

पश्चिमी दृष्टि मनुष्य को ही हर चीज़ का केन्द्र मानती है। उनका मकसद मानव स्वार्थ की पूर्ति के लिए प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण करना रहा है। भारतीय दृष्टि यह कहती है कि सभी प्राकृतिक उपादानों में एक निरंतरता और परस्पर निर्भरता बनी हुई है। जो तत्त्व प्रकृति में है वही मनुष्य में भी है। वैज्ञानिकता के आग्रह में हमने अपनी भारतीय दृष्टि खो दी। वैज्ञानिकता के दबाव में हम ये सोचने लगे कि जो कुछ पश्चिम का ज्ञान है, उसे आँख मूँदकर स्वीकार करो और जो कुछ स्वदेशी है, उसे आँख मूँदकर अस्वीकार करो।

जब भूमंडलीकरण का दौर शुरु हुआ तो उसका यह प्रभाव पड़ा कि हर क्षेत्र में एक तरह की एकरूपता फैला दी गई। इस तरह हर चीज़ की ब्रान्डिंग कर दी गई। भारतीय यूनिकनेस को समाप्त करने की यह एक बड़ी साजिश थी। लोग यह भूल गए कि जैसे जैविक विविधता आवश्यक है वैसे ही सांस्कृतिक विविधता भी आवश्यक है। हर चीज़ एक जैसी हो जाए वह पूँजीवादी दृष्टिकोण

का प्रभाव है। हमारी भाषा, संस्कृति आदि पर विकसित देशों का प्रभाव है। हम किसी विचार को तभी स्वीकार करते हैं जब उसे विदेशी स्वीकृति मिल जाए। हम पश्चिम के आइने में अपना चेहरा देख रहे हैं। भूमंडलीकरण के कारण जीवन, भाषा और संस्कृति की विविधता समाप्त हो गई। इसका एक उदाहरण है–इंग्लिश का हिंग्लिश हो जाना। आज हिंग्लिश पर अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार हो रहे हैं। संचार क्रांति की देन है कि जीवन में हर स्तर पर बदलाव दिखाई दे रहे हैं। अभिव्यक्ति के ढंग में, रहन-सहन तक में बदलाव आ रहे हैं।

संस्कृति एक जीवंत प्रक्रिया है–संग्रहालय में रखने की वस्तु नहीं है। यह परिवर्तनशील है। कभी-कभी इसे परिवर्तनशील बनाया भी जाता है। हमारा नेतृत्व इन प्रश्नों के प्रति कतई संवेदनशील नहीं है। आप देख सकते हैं कि शिक्षा के लिए अत्यंत कम बजट होता है। भूमंडलीकरण के प्रभावस्वरूप हमारे जीवन की प्राथमिकताएँ भी बदली हैं।

हिंदी की शक्ति का स्रोत उसकी बोलियाँ हैं–अवधी, ब्रजभाषा, बुंदेली, बघेली, छत्तीसगढ़ी एवं भोजपुरी आदि की भाषाई ठेठ देशीयता इसकी असली ताकत है। यही कारण है कि अवधी में रचित 'रामचरितमानस' सर्वाधिक पढ़ा जानेवाला ग्रंथ बना। हिंदी किसी एक स्थान या एक कालखंड की भाषा नहीं है। एक हज़ार वर्ष पहले खुसरो की शब्दावली वही थी जो आज हमारी है। ब्रजभाषा, अवधी आदि से कटकर हिंदी, हिंदी नहीं रहेगी। हिंदी की बोलियों, उपभाषाओं की अपनी ताकत है जिसकी वजह से तमाम आक्रमणों के बावजूद वो जिंदा हैं। अवधी में रचित तुलसीकृत 'रामचरितमानस' इसका ज्वलंत उदाहरण है। जिस भाषा में संस्कृति रची-बसी होती है उसे भूमंडलीकरण तबाह नहीं कर सकता।

गांधीजी ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति स्थापित की जबकि वे गैर हिंदी भाषी थे। भारतीय संविधान में कहीं भी राष्ट्रभाषा शब्द का प्रयोग नहीं है। गांधी जी और राजगोपालाचारी यही मानते थे कि हिंदी ही एकमात्र भाषा है जो पूरे देश को एक सूत्र में बाँधकर रख सकती है। विडंबना यह है कि हिंदी नाम के लिए राजभाषा है और आज भी सहराजभाषा अंग्रेज़ी ही राजभाषा बनी हुई है। यह हमारी लचर भाषानीति की वजह से है। आज हिंदी चुनाव जीतने की भाषा, मनोरंजन की भाषा हो सकती है किंतु गंभरी विचारों की भाषा, ज्ञान-विज्ञान की भाषा नहीं हो पाई है। यह चिंता और चिंतन दोनों का विषय हो सकती है। भाषा के क्षेत्र में एक ऐसी हाइआर्की बना दी गई है कि यही बात अगर मैं अंग्रेज़ी में कहता तो विशेष महत्त्व की होती और हिंदी में कह रहा हूँ तो कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

**प्रस्तुति : डॉ. विनोद कुमार चौबे**
असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय

# विश्व में हिन्दी भाषा

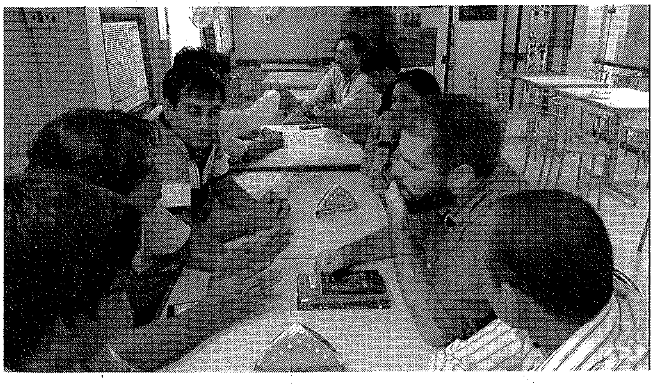

प्रतिबिम्ब हिन्दी साहित्य सभा सत्यवती महाविद्यालय ने वर्ष 2015-16 में व्याख्यानमाला का आरंभ 'विश्व में हिन्दी भाषा' विषय पर कार्यक्रम के आयोजन से किया। कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के रिसर्च स्कॉलर ग्रेग गुंडलिन ने इस कार्यक्रम में व्याख्यान दिया। वैश्विक स्तर पर हिन्दी भाषा के शोधपरक अध्ययन एवं व्यवहारिक प्रयोग के संबंध में ग्रेग गुंडलिन ने अपने विचार एवं अनुभव साझा करते हुए हिन्दी भाषा की संभावनाओं और समस्याओं का अकादमिक एवं व्यवहारिक धरातल पर विश्लेषण किया। यह व्याख्यान विद्यार्थी, वक्ता और शिक्षकों के बीच आत्मीय संवाद बना। इससे विद्यार्थी तो उत्साहित थे ही, शिक्षकों के लिए भी अविस्मरणीय अनुभव रहा। हमें खेद है कि इस दुलर्भ व्याख्यान की रिकार्डिंग उपलब्ध न होने के कारण व्याख्यान प्रकाशित नहीं कर पाए हैं।

# आत्मकथा और उपन्यास के बीच मुर्दहिया

**– ज्योति**
बी.ए. (ऑनर्स), तृतीय वर्ष

'आत्मकथा' यानी स्वयं की जिंदगी में घटी घटनाओं का विवरणात्मक एवं कथात्मक रूप। 'उपन्यास' वास्तविक अथवा काल्पनिक घटनाओं का समावेश....। आत्मकथा के केन्द्र में 'मैं' होता है, जबकि उपन्यास के केन्द्र में 'वह' भी हो सकता है।

'मुर्दहिया' अर्थात् मुर्दाघाट, जहाँ शरीर को पृथ्वी को अर्पित कर दिया जाता है। 'तुलसीराम' का जुड़ाव उसी 'मुर्दहिया' से रहा होगा शायद इसी कारण उन्होंने आत्मकथा का नाम 'मुर्दहिया' रखा। 'मुर्दहिया' देशज भाषा का शब्द है, जिसका शब्दिक अर्थ है– कब्रिस्तान, शमशान घाट।

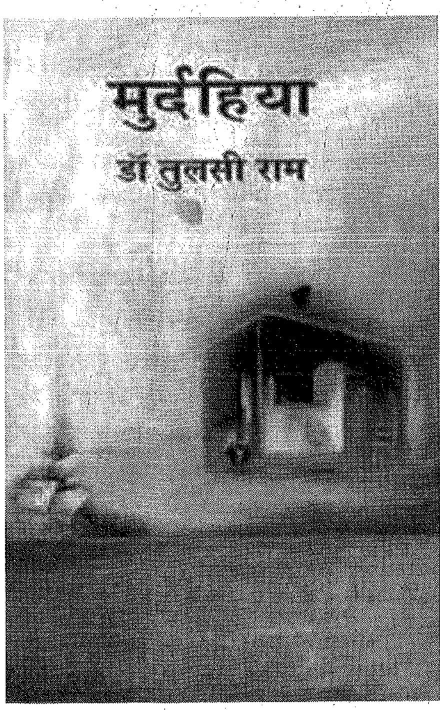


'तुलसीराम' का बचपन तथा यौवन अति अंधविश्वासी पारिवारिक पृष्ठभूमि में बीता। जहाँ छींक भी आ जाए तो अपशकुन हो जाता। इस अपशकुनी अंधविश्वास ने बिल्ली, कौऐ को तो क्या इंसानों को भी नहीं छोड़ा। जहाँ अशिक्षा हो, वहाँ अंधविश्वास होना सामान्य सी बात है परन्तु अति अंधविश्वासी होना मेरी समझ से परे है।

हिन्दू समाज में हर जाति के देवी-देवता, खान-पान, रीति-रिवाज और त्यौहार अलग-अलग हैं। उसी प्रकार तुलसीराम जी के परिवार में 'चमारिया माई' तथा 'धार-पुजौरा' आदि जैसे विधाता और विधि-विधान रहे। अति अंधविश्वासी पृष्ठभूमि होने का प्रभाव इन पर भी पड़ा साथ ही एक घटना ने इन्हें अपशकुनी की श्रेणी में भी लाकर खड़ा कर दिया। जहाँ चेचक से हुए चेहरे पर दाग तथा इसके प्रभाव से इनकी बाईं आँख की रोशनी चली गई। सिर्फ चिट्ठी बांचने के उद्देश्य से स्कूल में दाखिला होना तथा अपनी जिंदगी की शुरूआत एक साक्षर के रूप में करना।

हमारे जीवन में कई ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो हमारे हृदय में अपनी एक छवि छोड़ जाते हैं जो हमें प्रोत्साहित करते हैं और आगे बढ़ने में सहायता करते हैं। शिक्षा की कोई धर्म या जाति नहीं होती जो भी इसे ग्रहण करता वह उसी में समाहित हो जाती है। 'तुलसीराम' जी के जीवन में भी ऐसे व्यक्तित्व रहे, जिन्होंने जाति को कहीं दूर छोड़ शिक्षा को महत्व दिया तथा इन्हें कुछ बन पाने की प्रेरणा दी।

अपशकुन यानि किसी कार्य में बाधा पड़ना, कहने को यह केवल एक भ्रम है परन्तु कोई भ्रम किसी समाज को अपने भीतर इतना ग्रहण कर सका है कि वह उस समाज में रहने वाले व्यक्तियों को उससे छिन्न-भिन्न कर दे और हीनभाव की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दे।

मुझे आत्मकथा पढ़ते समय यह आत्मकथा कम उपन्यास अधिक लगा, शायद यह मेरे वैचारिक आग्रह के कारण हो सकता है या तुलसीराम के जीवनक्रम में घटनाओं का विवरण मुझे आत्मिक रूप से नही जोड़ पाया। उनकी आत्मकथा में मर्म पाठक को आकर्षित तो करता है परन्तु उसकी बौद्धिकता को उपन्यास के स्तर पर लाकर छोड़ देता है। पूरी आत्मकथा भोजपुरी के शब्दों, गीतों, मुहावरों से परिपूर्ण है, इसी भोजपुरी पृष्ठभूमि के होने के कारण मुझे कुछ जगहों पर अपनापन अधिक लगा। जैसे सर्दियों के दिनों में छोटे बच्चे खेल-खेल में गाना गाते थे कि-

**दऊ-दऊ धाम करऽ सुगवा सलाम करऽ**...तथा डीह बाबा इत्यादि जिसके बारे में दादी मुझे बताया करती थीं। आज़ादी के दो साल बाद जन्मे 'मुर्दहिया' के लेखक 'तुलसीराम' का जीवन अनेक घटनाक्रमों से घिरा रहा जहाँ उन्हें एक अपशकुनी घोषित कर दिया गया। चाचा के साथ मरे हुए जानवरों की खाल निकालने जाना पड़ा तथा अपने स्कूली जीवन में फाकाकशी में जीना पड़ा।

बात 'मुर्दहिया' से शुरू होती है, जो एक बहुउद्देशीय स्थल है, जहाँ तुलसीराम जी कहते हैं कि चारावाही से लेकर हरवाही तक के सारे रास्ते वहीं से गुजरते थे। इतना ही नहीं, स्कूल हो या दुकान, बाजार हो या मंदिर, यहाँ तक कि मजदूरी के लिए कलकत्ता वाली रेलगाड़ी पकड़ना हो, तो भी 'मुर्दहिया' से ही गुजरना पड़ता था।" आमतौर पर 'मुर्दाघरों को भूतों का डेरा माना जाता है, जहाँ कोई भी जाने से कतराए परन्तु एक समय ऐसा भी था जहाँ पशुओं को चराने के लिए भी वहीं ले जाया जाता था और एकांत में विचार करने तथा अपने मनोभावों को पंख देने का काम भी यहीं किया जाता था। शायद यही वह स्थान है जो इस छुआछूत के समाज से दूर हर मनुष्य को अपने भीतर समा लेती है, जहाँ कोई ब्राह्मण नहीं होता, न ही क्षत्रिय न कोई शूद्र। तुलसीराम कहते हैं कि "सबसे रोचक तथ्य यह है कि कि 'मुर्दहिया' मानव और पशु में कोई फर्क नहीं करती थी वह दोनों की मुक्तिदाता थी।"

यहाँ मनुष्य को भी मुक्ति मिलती थी तथा पशुओं को भी और उन को भी जो 'मुर्दहिया' की वीरानगी को काँय-काँय और हुआँ-हुआँ की आवाज से खण्डित कर देती थी। जो पशुओं के मांसपिडों पर जूझते हुए उसे कुछ ही देर में माँस के लोथड़े से हाड़ में बदल देते थे। यह वही स्थान था, जहाँ मरे पशुओं की खाल उतारी जाती, साथ ही घर में खाने के लिए डाँगर का इंतजाम किया जाता, जो दलित बस्ती के जीवन कालचक्र में कई ज़िंदगियों को भूख से मरण को जिंदगी में बदल देता था। वह कहते हैं कि "गाँव में किसी की गाय, भैंस या बैल मर जाता तो पास स्थित जंगल में ले जाकर उसका चमड़ा निकाला जाता फिर उसके बाद गंडासे और कुल्हाड़ियों से काट-काटकर उसका मांस सारे दलित बाँस से बनी टोकरियों में भरकर घर लाते। मांस काटने का काम प्रायः महिलाएँ करती थीं।"

तुलसीराम जी की यह स्वीकृति उन धार्मिक ठेकेदारों के लिए जवाब का कार्य कर सकती है जो यह मानते हैं, कि गाय-भैंस का मांस केवल अन्य धर्म के व्यक्ति ही खाते हैं भुखमरी के कारण हिन्दुओं की अधिकांश दलित जातियों को मरे हुए पशुओं का मांस खाने को विवश होना पड़ता था। हाँ यह अलग बात है कि आप दलितों को हिंदू मानने से ही मना कर दें।

भुखमरी के दौरान तथाकथित निम्न जाति जिसमें एक ज़ाति सम्मिलित है 'मुसहर' जाति जो गाँव के दक्षिण दिशा में बसी होती है, जो भुखमरी की स्थिति में खेत में पाए जाने वाले चूहों और मेढ़कों को मारकर खाने के लिए मजबूर थे शायद स्वयं उनको अपनी दयनीय स्थिति का अहसास तक न हो क्योंकि शायद तब तक उनकी स्थिति पर आत्मकथा लिखने वाले कोई 'तुलसीराम' और 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' नहीं मिले।

जब हम किसी पुस्तक के नाम के ठीक नीचे 'आत्मकथा' लिखा पढ़ते हैं तो हम स्वाभाविक ही स्वयं को उस पुस्तक से एक जुड़ाव महसूस करते हैं तब हमारे भीतर लेखक के जीवन तथा उनके परिश्रम, संघर्षों, पारिवारिक जीवन तथा सफलताओं के बारे में जानने के लिए उत्सुक होते हैं।

'तुलसीराम' जी ने अपनी बात बिना लाग-लपेट बिल्कुल सीधे-सादे तथा कहानीनुमा शैली में कही है। शायद इसी कारण हम यह भूल जाते हैं कि हम कोई उपन्यास नहीं आत्मकथा पढ़ रहे हैं।

मुझे तुलसीराम जी के जीवन में गरीबी तथा अंधविश्वास का दंश अधिक लगता है जाति के दंश की तुलना में। क्योंकि स्कूल से लेकर आगे की पढ़ाई तक उनके जीवन में कई ऐसे गैर-दलित शिक्षक रहे, जिन्होंने उन्हें आगे पढ़ने में सहायता की। लेकिन भारतीय समाज में जातिवाद की जड़ें इतनी गहरी हैं कि तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद दलित समाज न तो जातीय उत्पीड़न से मुक्त हो पाया और न जातीय-बोध से। स्वयं तुलसीराम भी जातीय-बोध से मुक्त नहीं हो पाए यद्यपि वह जातीय उत्पीड़न की पकड़ से दूर अकादमिक-जगत में आने में सफल हुए। उन्होंने अपनी अकादमिक पहचान भी बनाई और सम्मान भी पाया। अकादमिक-जगत भी जातिवादी संस्कारों से मुक्त नहीं है, शायद यही कारण है कि तुलसीराम भी जातीय-बोध से मुक्त नहीं हो पाये।

तुलसीराम जी के व्यक्तित्व में अकादमिक पहचान और दलित पहचान का द्वंद्व है। आत्मकथा लिखते हुए भी उनकी अकादमिक पहचान अधिक प्राभावी है। शायद यही कारण है कि उनके लेखन पर एक विचारक, चिंतक अथवा आलोचक हावी हो जाता है और आत्मकथा में आत्मीयता को कम कर देता है। शायद यही कारण है कि मुझे 'मुर्दहिया' आत्मकथा से ज्यादा उपन्यास लगती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' से हम भावनात्मक स्तर पर ज्यादा जुड़ते हैं जबकि 'मुर्दहिया' से वैचारिक स्तर पर अधिक जुड़ाव होता है।

हालांकि आत्मकथा और उपन्यास दोनों ही कथात्मक विधाएँ हैं। दोनों में ही पाठक को कथा-रस मिलता है लेकिन 'मुर्दहिया' पूरी तरह उपन्यास भी नहीं बन पाया है। इसके दो कारण हैं–एक तो यह कि तुलसीराम ने आत्मकथा लिखी है, उपन्यास नहीं। (यह अलग बात है कि इसमें आत्मकथा की आत्मीयता नहीं आ पाती।) दूसरा बड़ा कारण है कि लेखक तुलसीराम पर विमर्शकार तुलसीराम हावी हो जाता है। उनकी आत्मकथा में विमर्श, दर्शन, समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान इनते प्रभावी हैं कि आत्मकथा की आत्मीयता को कम कर देते हैं।

---

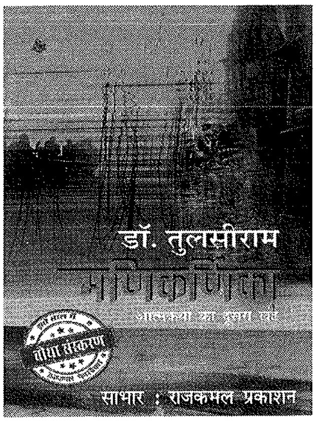


मणिकर्णिका 'मणिकर्णिका' डॉ. तुलसी राम की आत्मकथा का दूसरा खंड है! पहला खंड 'मुर्दहिया' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था! यह कहना अतिश्योक्ति नहीं कि 'मुर्दहिया' को हिंदी जगत की महत्तपूर्ण घटना के रूप में स्वीकार किया गया! साहित्य और समाज विज्ञान से जुड़े पाठकों, आलोचकों व् शोधकर्ताओं ने इस रचना के विभिन्न पक्षों को रेखांकित किया! शीर्षस्थ आलोचक डॉ. नामवर सिंह के अनुसार ग्रामीण जीवन का जो जिवंत वर्णन 'मुर्दहिया' में है, वैसा प्रेमचंद की रचनाओं में भी नहीं मिलता! 'मणिकर्णिका' में 'मुर्दहिया' के आगे का जीवन है! आजमगढ़ से निकलकर लेखक ने करीब 10 साल बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में बिताये! बनारस में आने पर जीवन के अंत की प्रतीक 'मणिकर्णिका' से ही लेखक का जैसे नया जीवन शुरू हुआ! लेखक के शब्दों में 'गंगा के घाटों तथा बनारस के मंदिरों से जो यात्रा शुरू हुई थी, अन्ततोगत्वा वह कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में समाप्त हो गई! मार्क्सवाद ने मुझे विश्वदृष्टि प्रदान की, जिसके चलते मेरा व्यक्तिगत दुःख दुनिया के दुःख में मिलकर अपना अस्तित्व खो बैठा! मुर्दहिया में जो विचार सुप्त अवस्था में थे, वे मणिकर्णिका में विकसित हुए!' लेखक ने अपने जीवनानुभवों का वर्णन करते हुए उस खास समय को भी विश्लेषित किया है जिसके भीतर प्रवृत्तियों का सघन संघर्ष चल रहा था! बनारस जैसे इस ति के पृष्ठों पर जीवन हो उठा है! इस स्मृति-आख्यान में कलकत्ता भी है, अनेक वैचारिक संदर्भों के साथ!

# जातिवादी परंपरा को सलाम!

– **अश्विनी कुमार यादव**
बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी, तृतीय वर्ष

हिंदी के दलित साहित्य को स्थापित करने व उसे प्रतिष्ठा दिलाने वालों में ओमप्रकाश वाल्मीकि का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है।

उनकी आत्मकथा 'जूठन' दलित समाज के यथार्थ का प्रतिनिधि चित्र है और उनकी कहानी 'सलाम' दलित प्रतिरोध की परंपरा में महत्त्वपूर्ण कहानी है। उन्होंने 'सलाम' कहानी में दलित जीवन की पीड़ा, संत्रास, छटपटाहट और जीवन की विवशता को रचनात्मक रूप प्रदान किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य अपने भोगे हुए यथार्थ के माध्यम से समाज के कटु सत्य को उजागर करते हुए मनुष्यता के पक्ष में खड़ा ही नहीं अपितु जूझता नजर आता है।

इसके सन्दर्भ में वाल्मीकि जी की मान्यता थी–

"दलित साहित्य किसी आनंद मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं, आदमी को आदमी की तरह जिन्दा रखने के लिए, उसकी अपनी निजता को स्थापित करने के लिए अस्तित्व में आया।"

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस कहानी के माध्यम से दलित साहित्य में चर्चित विषय सहानुभूति और स्वानुभूति को भी एक नये सिरे से बताने का प्रयास किया है, जिस विषय की चर्चा दलित साहित्यकारों व गैरदलित साहित्यकारों के बीच होती रही है, उसे भी इस कहानी में बहुत ही अच्छे से स्पष्ट कर दिया गया है। एक तरफ जहाँ दलित हरीश है जिसने जातीय उत्पीड़न झेला है, तो वहीं गैर दलित कमल उपाध्याय है जो पहले तो दलितों के प्रति सहानुभूति रखता है लेकिन जब स्वयम् के साथ घटना घटित होती है, तब वह दलितों की पीड़ा की स्वानुभूति महसूस करता है उदाहरण के लिए सलाम कहानी का यह अंश देख सकते हैं जो इस बात की पुष्टि करता है–

"उसने पहली बार अखबारों में छपी उन खबरों को शिद्दत से महसूस किया। जिस पर विश्वास नहीं कर पाता था वह। फलाँ जगह दलित युवक को पीट-पीटकर मार डाला, फलाँ जगह आग में भून दिया। घरों में आग लगी दी।........"

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने सलाम कहानी में शोषित जन-समूह की अस्मिता को उभारा और समाज की विसंगतियों पर प्रहार किया है। यह कहानी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनतिक सन्दर्भों के बीच रची गयी है। इस कहानी में एक बड़े वर्ग का असंवेदनशील चेहरा उभर कर सामने आता है। बरसों की उपेक्षा से उपजी व्यथा को वाल्मीकि ने स्वर दिया है।

साभार : जनसत्ता

हरीश ने स्पष्ट तौर पर कह दिया था, **"मुझे न ऐसे कपड़े चाहिए, न बर्तन, मैं अपरिचितों के दरवाजे 'सलाम' पर नहीं जाऊँगा"**

'सलाम' कहानी उस सांमती सोच और व्यवस्था के खिलाफ है जो बरसों बरस से चली आ रही है। वाल्मीकि जी का मानना था कि एक दलित ही दलित की पीड़ा को समझ सकता है। कुछ हद तक यह सच भी है क्योंकि समाज के तिरस्कार और उत्पीड़न से उपजी पीड़ा की अनुभूति शायद ही सवर्ण व्यवस्था में की जा सके।

सलाम कहानी का पात्र हरीश जो पढ़ा लिखा युवक है तथा शहर से गाँव ब्याह के लिए आया है। वह गाँव में घूम-घूम कर बड़े लोगों के दरवाजे जाकर सलाम करने के खिलाफ है। वह थोड़े से कपड़े और बर्तन के लिए अपना स्वाभिमान गिरवी नहीं रखना चाहता था। उसे याद है कि जब भी उसने पहले किसी दूल्हे या दुल्हन को दरवाजे-दरवाजे घूमते देखा है। तो उसके स्वयं के स्वाभिमान को ठेस पहुँची है। वाल्मीकि जी ने शहर और गाँव का फर्क भी दिखाया है। शहर के लोग शिक्षित होकर अपने अधिकारों के प्रति सचेत हैं। शहर से हरीश का दोस्त कमल भी साथ आया है और गाँव आकर महसूस करता है कि अखबारों में छपी दलित शोषण की घटनाएँ सच ही होती थीं। ऐसी ही एक घटना से वह खुद रूबरू हुआ जब वह सुबह चाय की दुकान पर अपमानित किया गया।

जाति विशेष के सम्बोधन से उसे गालियां दी गयीं। इस पूरी घटना को वाल्मीकि इस तरह से लिखते है :-

"कमल को लगा जैसे अपमान का घना वियावान जंगल उग आया है। उसका रोम-रोम कांपने लगा। उसने आसपास खड़े लोगों पर निगाहें डालीं। हिंसक शिकारी तेज नाखूनों से उस पर हमला करने की तैयारी कर रहे थे।"

समाज में दलितों के प्रति लोगों की इतनी हीन भावना है कि लोग यह मानने को तैयार नहीं होते हैं कि कमल ब्राह्मण है ऐसा सिर्फ इस लिए कि वह दलित के घर रुका हुआ है। अर्थात इस कहानी में **दलितों के हमदर्द ब्राह्मण को भी दलित माना जाता है। उसकी सवर्ण पहचान को नकारकर उसे 'चमार-चूहड़ा' कहा जाता है। दलितों के पक्षधर सवर्ण को भी गालियाँ खानी पड़ती हैं।**

वाल्मीकि ने अपनी 'युग चेतना' कविता में अपनी पीड़ा कुछ इस प्रकार व्यक्त की है–

**"इतिहास यहाँ नकली है**
**मर्यादाएँ सब झूठी**
**हत्यारों की रक्तरंजित उँगलियों पर**
**जैसे चमक रही**
**सोने की नग जड़ी अगूँठियाँ......"**

हरीश के भीतर वर्ण व्यवस्था के प्रति आक्रोश है। वह ऊँची जातियों द्वारा बनाये गये रीति-रिवाजों को मानने से मना कर देता है और रीति-रिवाजों को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश ठहराता है। वह कहता है–

"आप चाहे जो समझें......मैं इस रिवाज़ को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूँ। यह सलाम की रस्म बंद होनी चाहिए।" समाज के कुछ बाहुबली लोगों द्वारा किया जाने वाला शोषण अब दलित वर्ग और नहीं सहेगा। शक्ति प्रदर्शन की यहाँ परंपरा खत्म होनी चाहिए।"

हरीश का सलाम से इंकार पूरे जातिवादी समाज को चुनौती है। प्रतिरोध के लिए साहस की आवश्यकता होती है। यह साहस शिक्षा से आया है। वाल्मीकि जी ने यहाँ यह दिखाने की कोशिश की है कि शिक्षा एक ऐसा औजार है, जिसके द्वारा जाति व्यवस्था की बेड़ियों को काटा जा सकता है। दलित समाज अपने अधिकारों के प्रति तभी सचेत होगा जब वो शिक्षित होगा।

सलाम कहानी में वे जातिगत संस्कारों को तोड़ने की बात करते हैं, कहानी के अंत में हिन्दू-मुसलमान के छुआछूत को दिखाते हैं। सलाम करने न जाकर हरीश को जिस स्वाभिमान और आत्मविश्वास से भरा दिखाते हैं वहीं एक छोटे लड़के के ये बोल सुनकर "मैं मुसलमान के हाथ की बनी रोटी नहीं खाऊँगा" हताशा होने लगती है। सम्भवतः लेखक ने इस कहानी के माध्यम से जाति के साथ-साथ धार्मिक भेदभाव की समाज में गहरी पैठ की ओर इशारा किया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित साहित्य में प्रतिरोध की परंपरा को आगे बढ़ाया है। उन्होंने जातीय उत्पीड़न और जातिवादी परंपरा के समक्ष घुटने टेकने से इंकार कर दिया। किसी भी जातिवादी परंपरा को कभी सलाम करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उनकी आत्मकथा, कहानी, आलोचना और कविताएँ इसका प्रमाण है।

# कभी सोचा है?

**ओमप्रकाश वाल्मीकि**

तुम महान हो
तुम्हारी जिह्वा से निकला हर शब्द पवित्र है
मान बैठा था मैं
तुमने पढ़ रखी हैं ढेरों पुस्तकें
आता है दोहराना शब्दों को
बदलना अर्थों को
सहिष्णुता तुम्हारी पहचान है
वर्ण-व्यवस्था को तुम कहते हो आदर्श
खुश हो जाते हो
साम्यवाद की हार पर
जब टूटता है रूस
तो तुम्हारा सीना 36 का हो जाता है
क्योंकि मार्क्सवादियों ने
बना दिया है छिनाल
तुम्हारी संस्कृति को
हाँ, सचमुच तुम सहिष्णु हो
जब दंगे में मारे जाते हैं
अब्दुल और कासिम
कल्लू और बिरजू
तब तुम सत्यनारायण की कथा सुनते हुए
भूल जाते हो अख़बार पढ़ना
पूजते हो
गाँधी के हत्यारे को
तोड़ते हो इबादतगाह झुंड बनाकर

कभी सोचा है,
गन्दे नाले के किनारे बसे
वर्ण-व्यस्वथा के मारे लोग
इस तरह क्यों जीते हैं
तुम पराये क्यों लगते हो उन्हें
कभी सोचा है?

साभार : कविता कोश

# नो बार, कंडीशन अप्लाई

**प्रीति सिंह**
बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी, तृतीय वर्ष

'नो बार' कहानी जयप्रकाश कर्दम द्वारा रचित प्रसिद्ध कहानी है। वे पहली पीढ़ी के प्रमुख रचनाकारों में से एक माने जाते हैं। इनको हिन्दी दलित साहित्य का प्रथम उपन्यासकार भी माना जाता है। जयप्रकाश कर्दम ने हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य की न केवल पहचान बनाने का संघर्ष किया है बल्कि दलित साहित्य की प्रमुख विधाओं में लेखन कार्य करके एक चुनौती पेश की।

'नो बार' कहानी में जयप्रकाश कर्दम ने अन्तरजातीय विवाह के प्रश्न के माध्यम से जाति की समस्या को उठाया है। उन्होंने इस आधुनिक अंतरजातीय विवाह का सबंध दलित जाति से जोड़कर इस विकराल समस्या को उजागर करने का प्रयास किया। 'नो बार' का शाब्दिक अर्थ है- कास्ट रहित। इस कहानी में आधुनिक अन्तरजातीय विवाह का प्रथम चरण मैट्रीमोनियल्स विज्ञापन के द्वारा आरंभ होता है।

"वाण्टेड सुटेबल ग्रूम फार एम.ए. 25 ईयर्स 158 सेण्टीमीटर, स्वीटिश, स्लिम, शार्प फीचर्ड, ब्यूटीफुल गर्ल, ऐक्सपर्ट इन हाऊस होल्ड, हाइली एजुकेटेड फैमिली, कास्ट नो बार"

इस कहानी का प्रमुख पात्र 'राजेश' जो दलित जाति से संबधित है, इसको केन्द्र में रखकर लेखक ने उन लोगों के वैचारिक दोहरेपन को बेनकाब किया है जो अपने आप को प्रगतिशील होने का दावा तो करते हैं किंतु जब बात दलित जाति पर आती है तो वही प्रगतिशील लोग अपनी पौराणिक परंपरा, जाति-भेद, ऊँच-नीच के आवरण में छिप जाते हैं।

जयप्रकाश कर्दम जी ने इस कहानी को आधार बनाकर समाज के उस हिस्से के लोगों से परिचय कराया है जो यह कहने का दावा करता है कि हमारा समाज आधुनिकता की ओर उन्मुख है, यहाँ जाति-पाति और भेदभाव का कोई महत्व नहीं है, यहाँ व्यक्ति की पहचान उसके शिक्षित व्यवहार से करायी जाती है। इन लोगों का दावा है कि ये जातिवादी नहीं हैं-

"दरअसल जाति-पाति और भेदभाव का यह रोग अनपढ़ लोगों में है, पढ़ा-लिखा समाज कहाँ जाति को मानता है? पढ़े-लिखे और शिक्षित समाज में व्यक्ति की पहचान जाति से नहीं उसकी शिक्षा, योग्यता और आर्थिक स्थिति के आधार पर जानी और मानी जाती है।"

जहाँ बात अन्रजातीय विवाह की आती है, वहाँ इस प्रकृति के लोग यह दावा करते हैं कि हमारा समाज जाति-व्यवस्था को बहुत पीछे छोड़ आया है। हम पिछड़ेपन को नहीं मानते हैं, हमारे यहाँ लड़के और लड़की की औपचारिक विशेषता ही महत्व रखती है। यहाँ सिर्फ लड़के और लड़की की पसन्द निर्भर करती है और उनको ही प्राथमिकता दी जाती है।

"देखिए राजेश जी हम बड़े खुले विचारों के आदमी हैं। जाति, धर्म-सम्प्रदाय किसी प्रकार के बन्धन को हम नहीं मानते हैं। ये सब पिछड़ेपन का प्रतीक हैं। हमारे परिवार में जितनी भी शादियां हुई हैं, वे सब अन्तरजातीय हुई हैं। अब देखो मैं ब्रह्मण हूँ और मेरी पत्नी कायस्थ परिवार से है। हमारी बड़ी बेटी की शादी अग्रवाल लड़के से हुई है और हमारे घर में जो बहु आई है वह पंजाबी है।"

किन्तु जहाँ बात दलित जाति या दलित वर्ग की हो तो वहाँ इन प्रगतिशील समाज के लोगों की विचारधारा बदल जाती है। लेखक ने यहाँ इस ओर भी संकेत किया है कि यह समाज दलित को छोड़कर अन्य जाति के साथ तो नि:संकोच सबंध बना सकता है किंतु यह समाज दलित जाति को आज भी अछूता ही मानता है और वह दलित वर्ग के लोगों को आज भी दबा-कुचला अस्तिवहीन ही समझता है।

इस कहानी में जब लड़के और लड़की के विवाह का संबंध औपचारिक रूप से जुड़ जाता है तथा दोनों आपस में एक-दूसरे को पसन्द भी कर लेते हैं और जब बात रिश्ते के अंतिम फैसले पर आकर रुकती है तो लड़की के पिता और राजेश के बीच में राजनीति से संबधित बात होती है और इस वार्तालाप में राजेश का रूझान दलित जाति की ओर देखकर लड़की के पिता को यह आशंका होने लगती है कहीं ये दलित जाति का तो नहीं है!

"बी.जे.पी. क्या? ये समाज के रास्ते में हर्डल हैं, ये सब जातिवाद फैला रहे हैं, समाज को तोड़ रहें जाति की राजनीति कर रहे हैं। और फिर एक क्षण रुककर, अच्छा-खासा सब कुछ चल रहा था, समाज प्रोग्रैसिव हो रहा था। जातिवाद अपनी मौत पर जा रहा था, लेकिन वी.पी. सिंह के बच्चे ने मसीहा बनने के चक्कर में मण्डल कमीशन लागू कर जातिवाद को फिर से जिन्दा कर दिया।"

लड़की के पिता को जब यह पूर्ण रूप से लगने लगता है कि राजेश दलित जाति से है, तो वह अपनी बेटी से यह पूछने जाता है कि यह किस जाति का है किन्तु उसकी बेटी से उसे उत्तर मिलता है कि हमने विज्ञापन में नो बार दिया था तो फिर कास्ट से क्या मतलब?

इस संदर्भ में लड़की के पिता कहते हैं:- "आखिर 'नो बार' का यह मतलब तो नहीं कि किसी चमार-चूहड़े के साथ।"

अंततः इस कहानी के आधार पर हम कह सकते हैं कि आज के तथाकथित प्रगतिशील समाज में वर्ण व्यवस्था की तीन

व्यवस्था (ब्रह्मण, क्षत्रीय, वैश्य) तीनों आपस में एक दूसरे के साथ संबंध बन सकते हैं किंतु सवाल जहाँ चौथी व्यवस्था (शूद्र/अछूत) या दलित वर्ग का होता है वह उसे आज भी बहिष्कृत ही समझा जाता है। दलित जाति को आज भी घृणित दृष्टि से देखा जाता है। उसे आज भी चूहड़े-चमार जैसे अपमानजनक शब्दों से उसकी पहचान करायी जाती है और उसे पथ-पथ पर चूहड़े-चमार होने का बोध कराया जाता है।

इस कहानी में जयप्रकाश कर्दम ने हमारे समाज के जातिवादी यथार्थ को उजागर करके समाज की तथाकथित प्रगतिशीलता पर व्यंग्य किया है कि कुछ लोग अपनी संतानों के लिए उपयुक्त 'वर-वधू' न मिल पाने की स्थिति में अंतरजातीय विवाह का विकल्प चुनते हैं। वे अपनी विकल्पहीनता को प्रगतिशीलता की तरह पेश करते हैं। वे दावा करने लगते हैं कि हम जाति को नहीं मानते इसलिए अंतरजातीय विवाह कर रहे है। जयप्रकाश कर्दम ने अंतरजातीय विवाह की इसी प्रगतिशीलता पर व्यंग्य किया है कि हमारे समाज में अंतरजातीय विवाह तो हुए है लेकिन ये जाति तोड़ने के लिए नहीं हुए। अंतरजातीय विवाह में शर्तें लागू हैं। कास्ट नो बार, कंडीशन अप्लाई।

भारतीय समाज की सच्चाई को जयप्रकाश कर्दम जी ने नया 'आओ नया भारत बनाएं' नामक कविता में कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है-

आओ, नया भारत बनाएं
ऐसा भारत जहाँ बेकारी हो
भुखमरी हो, लाचारी हो
ऊँच-नीच और छुआछात की बीमारी हो
जहाँ भ्रष्टाचार का साम्राज्य हो
ईमानदारी और नैतिकता त्याज्य हो
इंसानियत की निर्मम हत्या
हैवानियत का नंगा नाच हो
जहाँ सच बोलना जुर्म हो
न्याय की कोताही हो
अभिव्यक्ति की आजादी न हो
सोचने की मनाही हो
जहां बुद्धिजीवी सत्ता के गुलाम हों
जड़ता को जायज ठहराया जाए
राजनीति के लिए अपराधी होना
अनिवार्य शर्त हो
बलात्कारियों, घोटालेबाजों को मंत्री बनाया जाए
जहाँ साम्प्रदायिक उन्माद हो
जातीय श्रेष्ठता का प्रमाद हो
प्रगति और विकास की बातें न हों
अराजकता और अनुशासनहीनता को
राष्ट्रीय पर्व मनाया जाए
जहाँ ईश्वर पर सवाल करना निषिद्ध हो
पाखण्ड प्रचार सरकारी कानून बनाया जाए
जहाँ धर्म का धंधा
सबसे बड़ा व्यापार हो
आदर्शों में गांधी, हिटलरी व्यवहार हो
जहाँ प्रेम करना वर्जित हो
सौहार्द्र का गला घोटा जाए
अंतरजातीय विवाह करने वालों को
फाँसी परा लटकाया जाए
अस्पृश्यता और विभेद
हमारे जीवन का मूल मंत्र हो
संवेदनहीनता को राष्ट्रीय चरित्र बनाया जाए
आओ, नया भारत बनाने के लिए
कुछ नए काम करें
रोटी छीनकर देश भर में त्रिशूल बाँटें
उद्योग धंधे बंद कर मंदिरों से पाटें
विज्ञान की पढायी बंद कर
तंत्र-मंत्र विद्या के स्कूल खोलें
नमस्कार कहना बंद कर 'जय श्रीराम' बोलें
जो नहीं बोलें
उन्हें अपना दुश्मन मानें
उनको उत्पीड़ित करें, जिंदा जलाएँ
आओ, प्रण करें
हम देश को एक नहीं होने देंगे
साम्प्रदायिकता और जाति-पाति की
खाइयों को नहीं पटने देंगे
अल्पसंख्यकों को दबाकर रखेंगे
दलितों को मनुष्य नहीं मानेंगे
बर्बरता हमारा धर्म होगा
लोकतंत्र को जिंदा नहीं रहने देंगे
हिंदुत्व हमारी संस्कृति और राष्ट्रीयता है
हिंदुत्व से आगे कोई बात नहीं करेंगे
हिंदुत्व के सिपहसालारो, आओ,
संविधान को जलाकर
मनु का विधान अपनाएं
नया भारत बनाएं।

# भारतेन्दु मण्डल के प्रतिक्रियावादी लेखक प्रतापनारायण मिश्र : (सन्दर्भ-भेड़ियाधसान)

**वेद प्रकाश**
बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी, तृतीय वर्ष

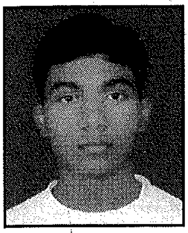

प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु युग के निबंधकारों में से एक हैं। उन्होंने अपने निबंध 'भेड़ियाधसान' के माध्यम से तत्कालीन, अंग्रेजी संस्कृति के पिछलग्गुओं पर एक ओर व्यंग्य कसा है तो दूसरी ओर भारतीय धर्म, संस्कृति, मूल्यों की महत्ता स्थापित की है।

उनका मानना है कि 'किसी देश वा जाति में सबके सभी लोग असाधारण बुद्धि बल संपन्न नहीं होते' और इस तरह साधारण लोगों को असाधारण बुद्धि बल संपत्ति वाले लोगों के बनाए गए मार्ग पर चलना चाहिए। वर्तमान संदर्भ में यदि इस बात को देखा जाए तो सदियों पहले जो कर्म आधारित जाति व्यवस्था बनाई गई थी आज विशेषकर निम्न वर्ग में लोगों को इच्छा-अनिच्छा वह कर्म करना पड़ता है, जो उसे परंपरा से मिला है। दूसरी ओर लोग उस कर्म से जुड़े लोगों को भी उसी पहचान से देखते हैं। आज भूमंडलीकरण के इस दौर में लोगों की दिन-प्रतिदिन बढ़ रही आवश्यकता के कारण न केवल उसे जीवन निर्वाह के लिए अन्य कर्म करने पड़ते हैं बल्कि कई बार उसे अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पलायन भी करना पड़ता है। जिसकी वजह से कर्म आधारित जाति व्यवस्था को (जो व्यक्ति उसे उसकी अस्मिता से जोड़ते थे और तथाकथित निम्न वर्ग का शोषण करते थे) आज उस वर्ण-व्यवस्था को बदलना होगा। आज अपनी प्रतिभा के बल पर समाज के विभिन्न उच्च पदों पर निम्न वर्ग बेहतर समाज निर्माण में अपना योगदान दे रहा है। साथ ही समाज के तथाकथित उच्च जाति के लोग भी निम्न जाति के लिए रूढ़ हो चुके कामों को करने में आगे आए हैं।

प्रताप नारायण मिश्र कहते हैं कि 'जो लोग डॉक्टरी दवा नहीं खाते वे बुखार आते ही मर नहीं जाते' साथ ही अंग्रेजी दवा के प्रयोग का विरोध करते हैं। लेकिन यदि अंग्रेजी दवा ना खायी जाए तो जो बीमारी कुछ दिनों में खत्म हो सकती है वो महीनों में खत्म होगी, साथ ही महामारियों की स्थिति में तो पूर्व की तरह गाँव-के-गाँव मर जाने की खबर मिलने लगेगी। एक अच्छे समाज के निर्माण के लिए जो शिक्षित एवं स्वस्थ्य मानव समाज की आवश्यकता है वह कभी भी खतरे में पड़ सकती है। प्रताप नारायण मिश्र पश्चिम की हर उस चीज का विरोध करते हैं, जो भारतीय समाज और व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए जरूरी है। वे जातिवाद जैसी खतरनाक बीमारी से समाज को मुक्त नहीं होने देना चाहते।

वे कहते हैं कि 'जो लोग मारकीन व गिरंट नहीं पहनते वे शीतोष्ण वायु का वेग सहनकर के ठिठुर अथवा झौंस नहीं जाते'। परंतु वास्तविकता है कि खादी वस्त्रों की ब्रांडिंग की वजह से आम जनता की पहुँच से दूर हो गए है।

इसी वजह से लोग सस्ती मारकीन कपड़ो का प्रयोग करते हैं जो सस्ते होने के साथ-साथ टिकाऊ भी होती है।

प्रताप नारायण मिश्र उस कर्म आधारित जाति व्यवस्था को श्रेष्ठ मानते हैं जिसमें ब्राह्मण वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, नीति के पठन-पाठन करे, क्षत्रिय विद्या और वीरता ग्रहण करें, वैश्य देश-देशांतर गमन कर व्यवसाय करें और शूद्र लोग सरल भाव से वर्णात्रयी की सेवा करें। लेकिन इस व्यवस्था ने जिस तरह निम्न वर्ग को शोषण की आग में धकेल दिया और तथाकथित उच्च वर्ग की स्वार्थपरक भावना के कारण कई सौ वर्षों तक भारत पर विदेशियों के शासन को झेलने को मजबूर किया उसे देखते हुए तो इस वर्ण-व्यवस्था को बहुत पहले ही उखाड़ फेंकना चाहिए था।

प्रताप नारायण मिश्र प्रतिक्रियावादी लेखक हैं, जो पश्चिमी सभ्यता की प्रत्येक बात को निकृष्ट और भारतीयता को श्रेष्ठ मानते हैं। वह भारतीय समाज में व्याप्त ब्राहमणवाद और पितृसत्ता की वकालत भी करते हैं। दरअसल ऐसे लेखकों ने भारतीय समाज को भ्रमित किया है।

- प्रताप नारायण मिश्र ने स्त्री शिक्षा और विधवाओं के पुर्नविवाह का विरोध किया। उन्हें लगता था कि यदि स्त्री शिक्षित होगी तो बाहरी पुरुषों को प्रेम-पत्र लिखने लगेगी और पुरुषों के लिए बनी किताबें पढ़ने लगेगी इससे घर टूटेंगे। विधवा-विवाह विरोध के संदर्भ में उनका तर्क था कि यदि विधवाओं का पुर्नविवाह होने लगा तो अपने पतियों से असंतुष्ट पत्नियाँ अपने पतियों को जहर देकर मारने लगेंगी क्योंकि उन्हें यह विश्वास रहेगा कि पति की मृत्यु के बाद उनका दूसरा विवाह हो जायेगा।
- प्रताप नारायण मिश्र वर्ण-व्यवस्था और जाति को अनिवार्य मानते थे और पश्चिमी संस्कृति को वर्ण-व्यवस्था के लिए खतरा मानते थे।

# मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना

**तान्या लाम्बा**
बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी, प्रथम वर्ष

हिन्दू, इस्लाम, सिख, ईसाई एवं बौद्ध धर्म प्रमुख धर्म हैं। प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने धर्म ग्रंथो को आदर की दृष्टि से देखते हैं। इन ग्रंथो में लिखी प्रथाएँ उनके लिए प्रभु का आदेश हैं। हर ग्रंथ की मुख्य बातों में समानता का स्वर मुखरित होता है।

**कुरान के अनुसार:-**"सब व्यक्ति एक ही खुदा के बन्दे हैं। "रामायण में भगवान राम ने शबरी के जूठे बेर खाए जो कि तथाकथित निम्न जाति की स्त्री थी।"

सभी व्यक्ति ईश्वर की संतान है सब में एक रक्त बहता है। कोई भी धर्म दूसरे धर्म से घृणा करने की शिक्षा नहीं देता है। मजहब की सभी दीवारें हमने अपने स्वार्थ के लिए खड़ी की हैं। इन दीवारों को हमें ही गिराना होगा।

मजहब के नाम पर हमारे चारों ओर दंगे कर रहे हैं। इन दंगाइयों का कोई धर्म नहीं होता।

इनका उद्देश्य केवल समाज में अशान्ति फैला कर लोगों को आंतकित करना होता है। यदि एक हिन्दू का पड़ोसी कोई मुस्लिम है। उस मुस्लिम परिवार पर किसी प्रकार की विपत्ति आती है। वो हिन्दू उनको अपने घर के सदस्य की तरह सहायता करता है। उसके मन में धर्म का लेकर भेदभाव का विषैला कीड़ा कभी भी जन्म नहीं लेता है।

मजहब के नाम पर होने वाले दंगो का कारण कुछ लोगों का स्वार्थ रहा है। अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। मुस्लिम शासकों ने मुस्लिम धर्म का प्रचार किया। अंग्रेजों ने भी इसाई धर्म का प्रचार किया।

भारत में स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान जब हिन्दू-मुस्लिम एक हो गये तो अंग्रेजों के छत्र उखड़ने लगे। जिसके कारण अंग्रेजों को भारत छोड़ने को मजबूर होना पड़ा। लेकिन अंग्रेज भी कूटनीतिज्ञ थे "फूट डालो और राज करो" यह अंग्रेजो की नीति रही थी। उन्होंने हिन्दुओं और मुस्लिमों को एक दूसरे के खिलाफ भड़काया। और भेदभाव के जहर को चारों ओर फैलाया-

**"इस जमाने में हर एक को इस राह में चलते देखा**
**ये हिन्दू है ये मुस्लिम है पड़ के इस झगड़े में**
**क्रोध की चिंगारी से सारा चमन जलते देखा।"**

अंग्रेज भारत छोड़कर चले गए किंतु पाकिस्तान रूपी विष का बीज बो गये और धर्म के कारण भारत को टुकड़ो-टुकड़ों में विभक्त कर गये। यदि मुस्लिम भाइयों ने उस समय कुरान की आयतों व हिन्दुओं ने रामायण के दोहों पर ध्यान दिया होता तो आज भारत के टुकड़े न हुए होते। भारत माता अपने इस अंग के कटने का कष्ट अभी भुला भी नहीं पायी थी कि भारत माता के दूसरे अंग पंजाब, कश्मीर, असम में भी धर्म की आड़ में धर्म के अलगाव की चिता जलने लगी है। कुछ स्वार्थी धर्म के सहारे अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। और कार्य पूर्ति के लिए निर्दोष लोगों की बलि चढ़ाते हैं। पंजाब कश्मीर में प्रतिदिन होने वाला नरसंहार इसका क्रूर उदाहरण है। समाज में अशांति फैलाने के लिए लोग मस्जिद में सूअर काटकर डाल देते हैं तो मंदिर में मांस फेंक देते हैं। दूसरे देशों के भड़काने पर घरों को जला डालते हैं और खुश होते हैं। इंसान बाहर से आने वाले हर तूफान का सामना कर सकता है, यदि उसके घर की जड़ें मजबूत हों। घर के व्यक्ति ही घर की नींव कमजोर करेंगे तब घर को तूफान के थपेड़ों से बचाना असम्भव होगा। भारत देश के प्रत्येक व्यक्ति को मिलकर इस तूफान का सामना करना चाहिए। मजहब के नाम पर उठने वाले तूफान को शांत करना चाहिए। व देश की नींव मजबूत बनानी चाहिए। अपनी बुद्धि व विवेक से उचित व अनुचित का निर्णय प्रत्येक कदम पर उठाना चाहिए। हमें भारत माता के शरीर में चुभने वाले हर मजहबी काँटे को चुन-चुनकर निकालना है। व इस देश की बगिया को प्यार व एकता के फूलों को महकाना है।

**"चुन-चुनकर कांटे सभी, फूलों से चमन सजा दें।**
**दूर कर गम की रातें, सुख का उजाला फैला दें॥**
**छोड़ के सभी भेदभाव, भाई को भाई से मिला दें॥**

## भगत सिंह के विचार

इन दंगों के पीछे साम्प्रदायिक नेताओं और अखबारों का हाथ है। इस समय हिन्दुस्तान के नेताओं ने ऐसी लीद की है कि चुप ही भली। वही नेता जिन्होंने भारत को स्वतंत्रत कराने का बीड़ा अपने सिरों पर उठाया हुआ था और जो 'समान राष्ट्रीयता' और 'स्वराज्य-स्वराज्य' के दमगजे मारते नहीं थकते थे, वही या तो अपने सिर छिपाये चुपचाप बैठे हैं या इसी धर्मान्धिता के बहाव में बह चले हैं। सिर छिपाकर बैठने वालों की संख्या भी क्या कम है? लेकिन ऐसे नेता जो साम्प्रदायकि आन्दोलन में जा मिले हैं, जमीन खोदने से सैकड़ो निकल आते हैं। जो नेता हृदय से सबका भला चाहते हैं, ऐसे बहुत ही कम हैं। और साम्प्रदायिकता की ऐसी प्रबल बाढ़ आयी हुई है कि वे इसे रोक नहीं पा रहे। ऐसा लग रहा है कि भारत में नेतृत्व का दिवाला पिट गया है।

# हालांकि मैं सिगरेट नहीं पीता

**शम्भु शर्मा "अमलवासी"**
बी.ए. (ऑनर्स) हिंदी, प्रथम वर्ष

हालांकि मैं सिगरेट नहीं पीता
लेकिन पूछता हूँ, हर आते-जाते राहगीर से
कि भाई, क्या माचिस है तुम्हारे पास?

क्योंकि बहुत कुछ है इस दुनिया में
जिसे मैं फूँक देना चाहता हूँ।

कुछ लोग बैठकर महलों में
छू रहे आसमां की चोटी को

कुछ लोग सड़क पर रहते हैं
जो तरस रहे दो-रोटी को

अमीरी और गरीबी का
ये फर्क मिटाना चाहता हूँ

है बहुत कुछ इस दुनिया में
जिसे मैं फूँक देना चाहता हूँ

कोई काट रहा है पेड़ों को
कोई नष्ट कर रहा नदियों को
कोई बर्बाद कर रहा है खनिजों को
संग्रह है जो कई-सदियों का

चल रहे विकास के नाम पर
ये खेल रोकना चाहता हूँ

है बहुत कुछ इस दुनिया में
जिसे मैं फूँक देना चाहता हूँ।

ईरान, इराक और रसिया
लड़ रहे युद्ध के मेलों में
न जाने कितने बेगुनाह
तड़प रहे इन खून के खेलों में

ये भटक गए हैं राह से
इन्हें राह दिखाना चाहता हूँ

है बहुत कुछ इस दुनिया में
जिसे मैं फूँक देना चाहता हूँ।

मत काटो तुम इन पेड़ों को
मत नदियों को बर्बाद करो
सब देश, राष्ट्र मिल-जुलकर
लेते सुकून की सांस चलो
मैं तो जाग गया हूँ
तुम्हें भी जगाना चाहता हूँ

हो खुशियों की बारिश जिससे
वह पेड़ लगाना चाहता हूँ
है बहुत कुछ इस दुनिया में
जिसे मैं फूँक देना चाहता हूँ
"जीना है, तो कुछ करना होगा"

# शब्द

**ज्योति**
बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी, तृतीय वर्ष

क्या है शब्द?
अक्षरों का जाल है,
या जीवन का आरंभ.....।
सौ अर्थों को समेटे अपने भीतर
बना है सागर? या पीड़ा
है किसी कवि की..............।
दृढ़ निश्चय है किसी लक्ष्य का
या अंधविश्वास है किसी प्रेम का.....।
प्रतिबिम्ब है किसी उपमान का
या ऐलान है किसी जंग का
या रूप है सुंदरी का,
या यश है वर का.....।
क्या है शब्द?
स्पंदन है किसी हृदय का
बंधन है किसी रिश्ते का
अफसोस है किसी गलती का
और ...
अभिव्यक्ति है किसी माफी का
संकल्प है किसी कार्य का
अनुभव है किसी सफर का
शब्द वो नहीं जो लिखा जाए
शब्द वो है जो महसूस किया जाये
क्योंकि कुछ अक्षर मिलकर
सिर्फ शब्द नहीं बनाते
वो अहसास बनाते हैं वक्त का
वो अनुभव बनाते हैं सफर का।

# तन्हाई

**शिखा पारचा**
बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी, तृतीय वर्ष

मुझसे पूछा था एक रोज.....उसने यूँही हँसकर.....
तन्हाई और महफिल में से.....क्य चुनोगे बताओं रूक-कर...।।

न सोचते हुए ज्यादा.... बताया मैंने अपना इरादा....,
महफिल तो अकसर खत्म हो जाती है.....।

और खत्म होते ही, तन्हाई छा जाती है....।
तो क्यों मैं? पल भर की महफिल के लिए अपनी
जिंदगी की तन्हाई को रुसवा करूँ।।

जब आए तन्हा थे और जाएँगे भी तन्हा ही....।
तो क्यों न अपनी तन्हाई से प्यार करूँ...

और क्यों न उसी पर मरूँ।

# शांत मन की आँखें...।

**शिखा पारचा**
बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी, तृतीय वर्ष

आज जहाँ एक ओर इतनी अशांति है...
वहाँ मैं जब कभी शांत मन से सोचती हूँ
तो पाती हूँ कि ये दुनिया
"जी" नहीं रही है..."चल नहीं रही है....,"

बस अपने मतलब की चाह में, ये जिंदगी
को खत्म कर रही, उसे घिस रही है।

जहाँ एक ओर मनुष्य तीव्रता से सबको
घात पहुँचाता जा रहा है....
वहीं दूसरी और प्रकृति भी अपने स्वभाव बदल रही है।

पहाड़ जहाँ अपनी चोटियाँ गिरा रहे हैं...
वहीं नदियाँ व समुद्र ऊपर से शांत दिखकर

अंदर ही अंदर खलबली मचा रहे हैं

चुप-चाप जब मैं ये देखती हूँ तो... नदी व समुद्र की
खलबली को...

किनारों को सहते देखती हूँ...?

पर्वत की चोटी गिरने से...धरती की चोट सहते देखती हूँ।

शांति भरे दिल-दिमाग में, जब और गहराई
में जाती हूँ तो हवा

की बात समझ जाती हूँ....।

इस अशांति से वह भी तो रूखी सी हो गई है।

जहाँ कभी तेज हवा के झौंके से, पेड़-पौधे झूम उठते थे...
और

उस झोंके में "पत्ते" कहीं भी उड़ जाते थे.....।

आज वहीं उसी हवा में पेड़-पौधे खामोश पाती हूँ,

और झूमते उसी पत्ते को "लावारिस"।

रात के सन्नाटे में जब तारों में झाँकती हूँ, तो....
तो वहाँ भी मानवीय दुनिया की झलक पाती हूँ....
जो साथ तो रहते हैं...., जीते हैं किन्तु एक दूसरे से...

एक दूसरे की कामयाबी की चमक से ईर्ष्या करते हैं...।

"मानो एक दूसरे से स्पर्धा हो, कि किसी रोशनी तेज है।"

तारों की इसी भीड़ में जब एक बंजारा-तारा पाती हूँ........
तो उसमें खुद को पाती हूँ......जो

अपने तारों की दुनिया को उसी प्रकार देख रहा है....
जिस प्रकार मैं।।

# सुबह

**शिखा पारचा**

हर रात की तरह ये रात भी....
बेचैनी से आँखों में कट गई...
कब.....??

इसकी हमें भी खबर नहीं।
क्योंकि, हमने करवटें गिनी ही नहीं।
बस!! सुबह बिस्तर की सिलवटें देखी।

करवटें बदलते जब थक गए
तो एक बटन पर हाथ बड़ी उत्तेजना से पड़ा... और।
बत्ती जल गई।

माथे पर शिकन, हाथ आँखों पर चला गया।
घुप्प अँधेरे में रोशनी अचानक पड़ी थी।

आँखों से हाथ हटा, तो सामने वो तसवीर आ गई,
जो कभी, हमारा लक्ष्य थी।

वो लक्ष्य, जो हम बनना चाहते थे।
लेकिन अब वो मात्र दीवार को भरने वाली, एक तस्वीर है बस।

तस्वीर रूपी लक्ष्य से जब नज़र हटी तो आँखें ...
समय पर टिकी जो ठीक मेरे सिर पर टिक-टिक कर रहा था
ठीक '1 बजा' था सुबह का।
और मैं.......।

लिखे रही थी, अपनी ही दास्तां
बेचैन रहने की........।

नींद न आने की.......लेकिन क्यों......??

शायद यही जानने के लिए
कि मेरी सुबह अँधेरी क्यों होती है?

# रीत

**शिखा पारचा**

सुना है इस समाज ने.....एक रीत बनाई है....!
जिससे इस रीत की दुनिया खुद झुलसती आई है....।
क्या सोच कर इसमें अजीबो गरीब बंदिशें डाली....?
जिस पर खड़ा है मनुष्य अपने पैरों से,
खुद काट डालता है वही डाली..........।
क्यों? उन समाजशास्त्रियों ने नहीं
पाली काली कोयल निराली.....?
और क्यों उस कोयल की जगह
बेवकूफों ने चील को दे डाली.......।
कोयल होती तो ये सारा समाज मीठे बोल-बोलता.....हमेशा
गाता रहता.......,
किन्तु चील के आतंक को
देख वह खूब है रोता रहता।।

# विचित्र आलेख

**आकाश पाण्डेय**
बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी, प्रथम वर्ष

इक विचित्र आलेख
गढ़ा है प्रकृति ने
जिसमें चाँदनी की मुस्कान है...
चंदा का गान है....तम का डेरा है....
बादलों का बसेरा है....

धीरे-धीरे इक काली थाली में.....
मोमबत्तियों का जल जाना है...

फिर अचानक तारों को चले जाना है।

गहरी रजनी के बीच

लेते हैं सबका ध्यान खींच
छायी है इतनी निराशा फिर भी....

इनके अन्दर खिली है इक आशा...
घिरी निशा के बीच गाते हैं
खिल-खिलकर मुस्काते हैं
शायद यही कह जाते हैं रे प्यारे।

जब अंधेरा छा जाता है

तू क्यों घबरा जाता है?

धीरज रख फिर सवेरा हो जाना है
तारों को चले जाना है।

इक विचित्र आलेख....

भी गढ़ती है प्रकृति
जिसमें दुःखों का आसमान है
लगे व्यथाओं का जहान है
तम का डेरा है... चारों ओर अंधेरा है
"जीवन पहेली अद्‌भुत"
पर नहीं होना, मार्ग-विमुख, अपने हाथों ही,
यह गुंत्थी सुलझाना है, तारों को चले जाना है।

इसी गहरी रजनी के बीच
चला-चल अपनी गाड़ी खींच
आगे-अभी है कठिन डगर
नहीं थमेंगे कदम, मगर
सँभलकर बढ़ाना पाँव प्यारे
" अविरत चलकर ही... मंजिल हर कोई पाता है....।
हो....उमंग।

तो हर सफर कट जाता है....।

इक पहर, खग को भोर का गान सुनाना है
तारों को चले जाना है।

# तुलना

**याचना जैन**
बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी तृतीय वर्ष

तुम्हारी आयु के तुम्हारे जैसे,
छोटे मासूम से बच्चे
कचरा बीनते भीख माँगते
ढाबों में जूठे बर्तन मांजते
यहाँ-वहाँ मजदूरी करते
गालियाँ खाते, मार भी खाते
फुटपाथ पर रात बिताते
हर जगह दुत्कारे जाते
जैसे-तैसे पेट भरने का
रूखा-सूखा जुगाड़ बिठाते,
बिना नहाए मैले-कुचैले
फटे-पुराने कपड़े पहने,
चोरी-चकारी में पकड़े जाकर
हवालात जेल भी हो आते

कितने अच्छे हो तुम सोचो
उन सबकी तुलना में,
कितनी सुविधाएँ कितना स्नेह
प्राप्त है तुमको अपने घर में,
इस सौभाग्य का लाभ उठाओ
पढ़ लिखकर भविष्य बनाओ,
भविष्य केवल अपना नहीं,
बल्कि उस देश का,
जिसमें वो उपेक्षित भी रहते हैं।

# जन्म तो लेने दे मुझे

**याचना जैन**

कर भरोसा कोख पर, लज्जित न होने दूँगी कभी,
धन पराया होकर कभी, बगिया मूर्छित न होने दूँगी कभी
जन्म तो लेने दे मुझे......।

लक्ष्मी का रूप है मुझमें, सरस्वती का स्वरूप है मुझमें,
दया का भंडार हैं मुझमें, ममता का भंडार है मुझमें
जन्म तो लेने दे मुझे...........।

हिमालय तक पहुँची कभी, पहुँची हूँ चाँद पर
तू कभी बेटी रही थोड़ा पलटकर याद कर
जन्म तो लेने दे मुझे.........।

परिवार को बाँधा है मैंने गृहस्थी को पिरोया है कभी,
औलाद को सूखा देखकर, आँचल को भिगोया है कभी
जन्म तो लेने दे मुझे.........।

त्याग, तपस्या और बलिदान, यही मेरी परिभाषा है,
दो-दो कुलों को रोशन करूँ यही मेरी अभिलाषा है
जन्म तो लेने दे मुझे........।

बेटा अगर हीरा है तेरा, तो मोती से कम मैं भी नहीं
रोशन करे, आंगन तेरा, ज्योति से कम, मैं भी नहीं
जन्म तो लेने दे मुझे........।

# माँ याद आती हैं

**रमेश प्रजापति**
बी.ए. (प्रोग्राम) प्रथम वर्ष

जब चलते-चलते,
मेरे पाँव थक जाते हैं,
लापरवाही से
मेरे घाव पक जाते हैं,
बह जाते हैं,
अपने सब।
ढह जाते हैं,
सपने जब।
जब दिल के समन्दर में,
भीषण बाढ़ आती है।
सच बताऊँ दोस्तों
तब 'माँ' बहुत याद आती है।

# पापा हैं तो मैं हूँ

**रमेश प्रजापति**
बी.ए. (प्रोग्राम) प्रथम वर्ष

शाम हो गई अभी तो घूमने चलो न पापा
चलते-चलते थक गई कंधे पर बिठा लो न पापा
अँधेरे से डर लगता है' सीने से लगा लो न पापा
मम्मा तो सो गई

आप ही थपकी देकर सुलाओ न पापा
स्कूल तो पूरा हो गया
अब कॉलेज में भी जाने दो न पापा
पाल पोस कर बड़ा किया।
जब जुदा तो मत करो पापा
अब डोली में बिठा ही दिया तो
आँसू तो मत बहाओ पापा
आप की मुस्कराहट अच्छी है।

एक बार फिर से मुस्कराओ न पापा
आप ने मेरी हर बात मानी है।
एक बात और मान जाओ न पापा
इस धरती पर मैं बोझ नहीं
दुनिया को समझाओ न पापा
अब तो मुझे बचाओ न पापा।

# मन की सोच

**रितु शर्मा**
बी.ए. (ऑनर्स) हिंदी, तृतीय वर्ष

**'मन की सोच'**

बचपन से सीखा,
ये करना है, ऐसा करना है, ये तो, वो में,
उस वक्त इन सबको लेकर कोई सवाल मन में नहीं आया।
किन्तु अब लगता है,
मम्मी ने भाई को क्यों न सिखाया ये सब...।
मैं लड़की हूँ, क्या मुझे ही आना चाहिए सब
भाई को क्यों नहीं?
मेरा सवाल उन तमाम लोगों से है,
क्या लड़के सब कुछ पेट से आते हैं सीख कर
जो सभी लड़कियाँ सीखे
मैं नहीं जानती मैं सही हूँ या गलत
लड़की कोख से ही आती है सीख के,
संघर्ष करके जीना।

# प्रश्न

**रितु शर्मा**
बी.ए. (ऑनर्स) हिंदी, तृतीय वर्ष

बेटी बनी तो, ये डर था
मुझे कोख में,
जन्म ले भी पाऊँगी या नहीं?
पत्नी बनी तो, ये डर लगा
मुझे पराए घर समझने वाला
समझेगा या नहीं?
माँ बनी तो, ये डर रहा
कि बुढ़ापा घर कटेगा या नहीं?
"मेरा सवाल है सिर्फ इतना
कि स्त्री को क्या समाज में
किसी भी रूप में निडर
रहने का हक नहीं।"

# एक क्षण में

रेश्मा
बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी, तृतीय वर्ष

उस पल को देखने को
क्षण-क्षण का इंतजार करती हूँ
उस एक क्षण को पिरोना चाहती हूँ धागों में जोड़ना चाहती हूँ।
हर एक सुबह आशा की किरण लाती है
किंतु कुछ क्षण में फिर एक काली रात आ जाती है..।
उस पल में आँखें खोलने से पहले
इस क्षण में आँखें बंद करने की सोचती हूँ।
क्योंकि उस काली रात में देखने से आँखें बंद सी लगती हैं
कुछ न देख पाने की वजह से
द्वार बंद करना चाहती हूँ
किंतु तेज हवा के वेग से द्वार
बार-बार खुल जाता है।
बाहर जाकर देखा तो... चाँदनी रात थी
और आकाश में आयी तारों की बारात थी।

# एक तिनका

रेश्मा

बहते-बहते न जाने कहाँ जाता है तू
मत पुलक इतना थक जाता है तू
धाराओं के साथ बहना क्या, यही
तेरी मर्यादा है... या फिर
चलते ही जाना यही तेरा इरादा है।
कहीं बीच भँवर में चक्कर लगाना
और उस तेज लहर में खुद को जाना....।
और बीच में खुद को ही डुबो लेना....
साथ-साथ ही दूसरे तिनके को भी ले जाना
आखिर कब तक बहता ही रहेगा।
कहीं-न-कहीं तेरा अंत तो लिखा ही होगा।

# फीका रंग

रेश्मा

लगी है, जानी-पहचानी-सी चोट
कर दिया घायल और हो गए बेहोश
आँखें तो हैं खुली, हाँथ-पाँव हैं सुन्न
कहीं खो गए ऐसे कि खुद को नहीं खबर
खबर किसी को है नहीं तो.... क्यों करें किसी की पहल
खुद में ही खोये हुए हैं...
शायद निकलने का रास्ता बिसर गए हैं...।
चेहरे का रंग काफी फीका है..।
हँसी को लाना फिर से सीखा है।
ये चमक न जाने कब तक..
साथ है शायद जब तक

# एक पल में

रेश्मा
बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी, तृतीय वर्ष

गहरे सागर की गहराई भी
कभी उथली-सी लगने लगती है!
आसमान की असीमित रेखाएँ भी
सीमित सी लगने लगती हैं!

तारे जैसे गिरने को हैं
सूरज के अंगारों जैसे
क्यों लगता है ये सब...?

आँखो का कोई भ्रम है... या आँखे ही नम है?

रोज़ाना की तरह हलचलों में
क्यों एक पल में सब ठहरा सा लगता है?
और कभी एक ही पल में तहस-नहस हो जाता है।

फिर घर की चारदीवारी में भी कुछ-कुछ
ही अपना लगता है
पर्दे हैं वही पंखे हैं वही
कुर्सियां और दरवाजे भी है वही...।
फिर दूसरों के घर जैसा क्यों लगता है।

वही हैं रिश्ते वही है नाते
अब ये क्यों कमज़ोर से लगते हैं?
मन में है इतना सम्मान फिर क्यों
नहीं दिखाते हैं?

अल्लाह वही है.. वही ईश्वर
फिर क्यों सब पीछे छूटता जा रहा है...
लेकिन
कहीं-न-कहीं सब कुछ वैसा ही है
जैसा पहले था।

## पैरोडी

कारागार-जीवन स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाए, सहज संभाव्य है

प्रेम में बेवफाई स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाए, सहज संभाव्य है

## 'क्यों' का महत्व

**नरेश**, बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी, द्वितीय वर्ष

'क्यों' शब्द खोज का प्रतीक होता है। हर कार्य के बाद क्यों का प्रयोग उसके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करने में मदद करता है।

उदाहरण के तौर पर देखा जाए तो न्यूटन के सिर पर सेब गिरने पर उसने सोचा कि सेब नीचे 'क्यों'? 'क्यों' शब्द के कारण हमें गुरूत्वाकर्षण बल के बारे में ज्ञात हुआ। अगर न्यूटन 'क्यों?' शब्द का प्रयोग नहीं करता तो शायद हमें गुरूत्वाकर्षण बल के बारे में पता नहीं चलता। एक विद्यार्थी को 'क्यों' की जरूरत को समझना चाहिए, ताकि वह भविष्य का निर्माण सुलभ कर सकें तथा नई खोज करता रहे, कुछ लोग किताबी ज्ञान तक ही सीमित रह जाते हैं तथा 'क्यों' के महत्त्व को नहीं जान पाते, और इसलिए वह विकास नहीं कर पाते।

**"शिक्षा कभी समाप्त व सम्पूर्ण नहीं होती
सम्पूर्ण तो इंसान के ज्ञान प्राप्ति की इच्छा होती है।"**

## मेरी जिन्दगी की सीख

**निखत**, बी.ए. (ऑनर्स) हिंदी, प्रथम वर्ष

इस जिन्दगी के हर कदम पर हमें कुछ न कुछ सीख मिलती है। हम अपनी हर गलती पर कुछ सीख पाते हैं और अगली बार उस गलती को न करें, ये अपने मन में ठान लेते हैं। आज मैंने भी कुछ सीखा है, जो मैं आपको बताना चाहती हूँ। आज की इस भाग दौड़ भरी जिन्दगी में हमारे पास खुद के लिए भी समय नहीं बचता। हम हमेशा कुछ न कुछ पाने की चाह रखते हैं इस चाह में हम अपने आज को भूल जाते हैं, जबकि जिन्दगी तो हर पल खुलकर जीने का नाम है। जिस समय आपके पास जितना है उस समय उतने में ही खुलकर जी लें।

आज मैंने तीन छोटे-छोटे बच्चे देखे जो एक जगह बैठकर कुछ खा रहे थे जिनके शरीर पर गन्दे कपड़े थे, उनके पास पेट भरकर खाना भी नहीं था। जलाने के लिए लकड़ियाँ चुनकर जा रहे थे। वो एक वक्त की रोटी के लिए कितनी मेहनत कर रहे थे। पर उनके चेहरे पर जो हँसी थी, उसे देखकर ऐसा लगा कि उनको किसी चीज का गम नहीं है। उनके पास जितना था उसमें ही बहुत खुश थे। वो अपनी जिन्दगी को खुलकर जी रहे थे, उनकी मासूमियत और खुशी अलग ही चमक रही थी। जिससे मुझे यह सीख मिली कि जिन्दगी में आगे बढ़ने की अपनी चाह पूरी करने की इच्छा रखनी चाहिए पर अपने आज को भूलकर नहीं। तो दोस्तों खुलकर जीएं।

## जिम्मेदारी-एक एहसास

**अंकुर**, बी.ए. (ऑनर्स) हिंदी, तृतीय वर्ष

**'जिम्मेदारी'**-एक ऐसा शब्द है जिसे सुनते ही मिश्रित सा एहसास होता है। कुछ लोग इसे बोझ समझते हैं, तो कुछ इसे जीने का उद्देश्य समझते हैं। कुछ अपनी जिम्मेदारियों को अपना कर्म और कर्त्तव्य मानते हैं। सवाल यह नहीं है, कि कौन इसे क्या समझता है, बल्कि सवाल यह है कि आखिर एक ही बात के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाने से क्या प्रभाव होता है?

**जिम्मेदारी बोझ या जीने का उद्देश्य**-हर काम के साथ ही जिम्मेदारी जुड़ी होती है, अगर कहें कि जिम्मेदारी को ढंग से पूरा किए बिना किसी भी कार्य की सफलता की उम्मीद ही व्यर्थ है तो यह गलत नहीं होगा। जिम्मेदारी को यदि स्वयं समझकर पूरा किया जाए तो आत्मसंतुष्टि, आनन्द और उल्लास की प्राप्ति होगी और जिम्मेदारी यदि पूरी करनी पड़ती है तो चलो यह भी काम पूरा हुआ का बोध आता है। अब यह बात तो स्वयं विचार करने योग्य है कि काम जिम्मेदारी से होना चाहिए या बोझ समझकर। जब कोई व्यक्ति कोई भी जिम्मेदारी अपनी इच्छा से लेता है। तो वह उसकी शक्ति बन जाती है, और जीवन जीने का उद्देश्य बन जाती है, किन्तु जब यही जिम्मेदारी लेनी पड़ती है, तब यह एक बोझ का एहसास कराती है, जिम्मेदारी 20% तो दी जा सकती हैं, किन्तु 80% तो इसे लेना ही होता है। अतः दी नहीं जाती ज़िम्मेदारी ली जा सकती है।

## यदि चाहिए अच्छा कल तो बन्द करो नकल

**श्वेता जैन**, बी.ए. (ऑनर्स) हिंदी

नकल अर्थात् नहीं अच्छा कल नकल यानी जिसमें नहीं कल, नहीं चैन। नकल वह बेचैन मानसिकता है, जो मनुष्य को अन्दर ही अन्दर व्यग्र किए रखती है कि जो कुछ उसने प्राप्त किया वह परिश्रम से नहीं बल्कि अनैतिक तरीके से। इस प्रकार यदि हम नकल शब्द के खण्ड करें तो उसका विग्रह ही उसमें छिपी विद्रूपता को जाहिर कर देता है। नकल करने वाला विद्यार्थी, विद्यार्थी नहीं एक भेड़ हैं, प्रतीक है उस मानसिकता का जो आँखें मूंद कर किसी का भी और कहीं भी अनुसरण करती हैं। नकल हमारी सोचने-समझने की शक्ति को कम कर देती है। कोई भी निर्णय लेने की क्षमता को अवरूद्ध कर देती है, जिससे हमारा आत्म विश्वास डगमगाने लगता है। हमारे चिंतन में मौलिक विचारों का प्रकाश कम हो जाता है, और व्यक्तित्व रुके पानी की तरह सड़कर प्रभावहीन हो जाता है। उसकी चमक क्षीण होने लगती है। तो निर्णय आपके हाथ में हैं। भेड़ की तरह झुण्ड में चलना है आँख मूंद कर, या फिर सिंह की तरह अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करना है? अक्ल मंद बनना है या अक्ल को मन्द करना है?

**डॉ. विनोद कुमार चौबे** (असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय) **की कविताएँ**

# हम खेत हो गए

क्या जरूरी है कि अपनी व्यथा के अवगुंठनों को
खोल दूँ,
क्या यही काफी नहीं है जान लो मेरी व्यथा का
भार क्या है
मत कुरेदो
आग अनुसलगा ही रहने दो
एक लावा बर्फ की तलहटियों में दबा है
पड़ा रहने दो
व्यक्त बस इतना
कोख में दुख की पला हूँ
बीज मिट्टी में गला हूँ
आज झंझा में खड़ा हूँ-ठूंठ तरू-सा
होश जबसे है सँभाला
जिंदगी को है खंगाला
संगी साथी परिजनों के सालते संबंध जैसे
पूस की ठंडी हवा में स्याह पड़ जाती
लहू की गर्म साँसें
था कभी जवान मैं उष्ण बियावान में संभावनायें टोहता था
मैंने महसूस किया
मिल जाए अंधेरा कहीं भी, कभी भी
सड़क पर चौराहे पर
घर के चौबारे पर
अलमारी की दराज़ में
या फिर अपनी जेब मे ही
मुमकिन है
मिलती है रोशनी की एक किरण भी बड़ी मुश्किल से
सूरज को हथेलियों पर उगाना
चाँद को दिमाग की देहरी पर चमकाना
बड़ी बात है।
इससे भी बड़ी बात है
मगरमच्छ के जबड़े में फंसे हाथ को बाहर निकालना
अजगरों के पहरे से संदल के दरख्त को मुक्त कराना
एक अदद जंगल को उसके जंगलीपन से बचाना
बात बड़ी थी सवाल बड़े थे
सुरसा की तरह मुँह बाये खड़े थे
मैं हनुमान नहीं था जो मुँह में घुसकर कान से निकल आता
मैं तो पुआल का वह हौआ था
जो आबादी की फ़सल को बचाने के लिए बांस की
ठठरियों के सहारे
खेत के बीचोबीच खड़ा था
जिसे देखकर कौवे भी नहीं डरते थे
जहाँ जिंदगी के हर सवाल मौत से भारी पड़ते थे
मैं राख का वह ढेर था जिसपर चढ़कर
कई मुर्गों ने बांग लगाए,
सवेरा होने की घोषणा की और बन गए मसीहा
मगर मेरे भीतर की चिंगारी अनसुलगी ही रही
मैंने खुद को बहुत कूता
पर पड़ा रहा अछूता
मैं ताश के खेल में वह गुलाम था
जिसने कभी बादशाह से बख़्शीश नहीं ली और जो बेरंग
होने की वजह से
छोटे से छोटे पत्ते से भी पिटता रहा
मैं सूत की दुनिया में रेशम का कीड़ा न हो सका
रेत में दबा रहा धार के वार को सहता रहा
पर हीरा न हो सका
सूरज जलता रहा
रेत के गुबार उड़ उड़कर आँखों में छाते रहे
गर्म हवा की हर थिरकन को निर्झरी समझकर दौड़
लगाते रहे
और जब थक गए
तब पाया कि
हम पक गए
प्याज़ी मौसम और बैंगनी आसमान
तलाशते-तलाशते
उसी रेगिस्तान में हम
रेत हो गए
यों वृक्ष बनने की चाह में
हम खेत हो गए।

**डॉ. विनोद कुमार चौबे** (असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय) **की कविताएँ**

## शब्द जब चुक जाते हैं

क्या ज़रूरी है कि अपने प्यार को दो शब्द दे दूँ
क्या यही कुछ कम नहीं है कि मैं अक्सर
डूब जाता हूँ तुम्हारे नेत्र की गहराईयों में
और; तुम भी देखती हो
एकटक कुछ हेरती हो प्यार से
इन पुतरियों में
क्या धरा है शब्द में, अभिव्यंजना में
व्यर्थ की अतिरंजना में
शब्द में छल है सदा से ही रहा है
प्यार के एकान्त क्षण के एक पल की बात ही सच्ची है
जो ये नेत्र पढ़ते
फिर भी तेरा जी न माने
तो यही कुछ क्षण रखो दिल में छिपाकर
वासना के धूलकण जब थिर पड़ें तब
तुम बहा देना, लुटा देना
सुधा-रस प्रेम का सोता समझकर
फिर मिलूंगा गर ज़रूरी-सा लगे मिलना तुम्हें तो
फिर निहारूंगा तुम्हारे पांव के तल की ललाई
फिर दुलारूंगा तुम्हारी गोरी-सी नाजुक कलाई
फिर मुझे तुम देखना निःशब्द होकर
होठ कॉपेंगे मगर नहीं मौन तोडूंगा कभी भी
स्नेह की गहराईयों तक शब्द अक्सर चुक जाते
मौन केवल शेष बचता
अधर कँपते मूक होकर एक टक दो नेत्र तकते नहीं थकते
शब्द ही सबकुछ है क्या यह मूक अर्पण कुछ नहीं है।

## अलगनी पर शर्ट

तुम आती हो छत पर कभी-कभी
ठंडी हवा के मीठे झोंके की तरह
तपती दूपहरी में खस की खुश्बू की तरह
मैं हिलता हूँ तुम्हें देखकर
अलगनी पर टंगे गीले शर्ट की तरह
मुझे देखकर हठात्
चोर नज़रों से इधर-उधर झाँककर
मुसकराती हो तुम
कंजूस की तरह
मैं घबराता हूँ-एनेस्थीसिया से पहले
ऑपरेशन टेबल पर पड़े मरीज की तरह
तुम झेंपती हो-कर्ज़ खाये गरीब की तरह
कभी-कभी जब कोई नहीं होता छत पर
इधर-उधर हम दोनों के सिवा
तब तुम्हारे संकेत बड़े शरीफ़ाना होते हैं
हवा तब भी आती है पर
वह मीठी और ठंडी नहीं होती
उसमें बुझते चूने सी भभक होती है
आत्मा शर्ट को संकोच के प्लास्टिक हुक से चांप लेती है
बांहें कभी-कभी हिलती हैं
होठ थरथराते हैं, शर्ट के लटके बाजूओं की तरह पर
मेरा अहं भारी कॉलर की तरह
संस्कारों की अलगनी से चिपका रहता है
बार-बार तुम्हें छूकर आती हवा के बहुरंगी झोंके से
टकराकर भी मेरा ईमान
अलगनी से शर्ट की तरह लटका रहता है।
जब सूख जाएगा शर्ट कशमकश की धूप में
उतार लिया जाएगा।

## लोहा

खदान से निकले कुछ कच्चे लोहे
जो परिवर्द्धित हो गए-चुम्बक बन गए
जो परिष्कृत हो गए-इस्पात बन गए
जो न परिवर्द्धित हो सके न परिष्कृत
वे लोहा के लोहा ही रह गए
उन्हें भट्ठी में तपाया गया
हथौड़े से पीटा गया
उनसे कुछ हल बने कुछ हंसिया
कुछ चाकू छूरी भी
जो हल बने जोत रहे हैं
जो हंसिया बने-फसल काट रहे हैं
जो चाकू बने-गला रेत रहे हैं
सब लोहे से ही बने पर
कितने बने 'लोहिया'
कितने बने 'लौह पुरूष'

## अमरबेल

सुदूर मीलों तक
रेत के टीलों तक
जेठ की लू चलती दूपहरी में
खड़े हैं कुछ कंटीली झाड़ियों वाले वृक्ष
बबूल के
न जाने कहाँ से
रस खींच रहे हैं
उनके सिर पर
औंधे मुँह फैला घने जाल सा
अमरबेल निर्मूल
हरिया रहा है
ऊपर होने का सुख पा रहा है।
अमरबेल पसर रहा है
बबूल मर रहा है।

# मत्स्य कन्या
## (मरमेड का स्टेचू देखकर)

**डॉ. मुकेश मानस**
एसोसिएट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय

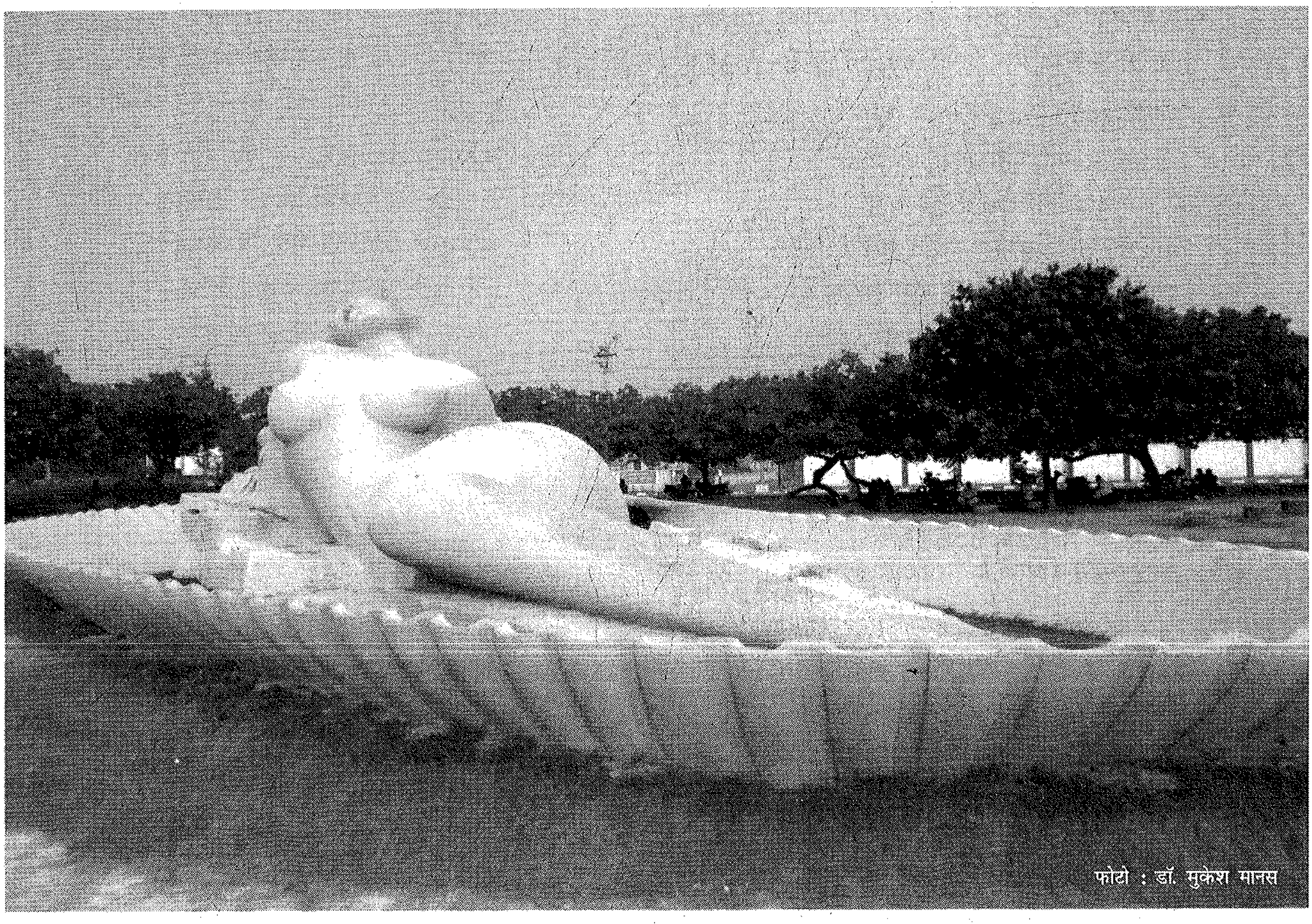


कौन हो तुम मत्स्य कन्या?
क्या है तुम्हारा नाम?
कैसै आ गयी तुम यहाँ इस किनारे पर?

बाल्टिक से लेकर कैस्पियन तक
काले, लाल और मूंगा सागर से लेकर
यहाँ अरब सागर तक तुम्हारे ही चर्चे हैं
तुम्हारे साहस की गाथाएँ गाते हैं सारे सागर
तुम्हारी अनूठी चपलता के आगे नतमस्तक हैं
ये उताल धवल लहरें
ये अपार जलनिधि कायल है तुम्हारी असीम दृढ़ता का

चाहे कितनी ही द्रुतगामी
कितनी वेगवान हो किसी सागर की लहर
तुम्हें बहा नहीं सकती तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध

फिर कैसे आ गयीं तुम यहाँ
अरब सागर के इस छोटे से तट पर

तुम्हारे जीवन का कौन-सा क्षण था वो
कौन-सा भाव था तुम्हारे मन का
जिसने तुम्हें इस कदर बेजार कर दिया सागर से

बताओ तो मत्स्य कन्या
वो क्या था जो तुम्हें यहाँ तक ले आया

ये किसकी तलाश झलक रही है तुम्हारी अधखुली आँखों में?
ये तुम्हारी स्नेहातुर सुडौल बांहें किसके लिए खुली हैं
कौन है जिसकी खातिर ललक रही है तुम्हारी मादक देह

तुम्हारा ये मदमाता वक्ष किसके लिए धड़क रहा है?
किसी सूदूर सागर के झिलमिलाते अंतस्तल से
किसकी खातिर आयी हो तुम यहाँ?

आदमियों के इस उजाड़ जंगल में

कुछ तो कहो मत्स्य कन्या
शायद तुम्हारी ही खातिर मैं यहाँ आया हूँ
या कि नियति ने बुलाया है मुझे यहाँ
कोई तो बात है जो मुझे यहाँ खींच लाई है
कुछ तो कहो मुझसे अपने मन की बात।

तुम्हारी यह आकर्षक देह
तुम्हारा यह दहकता हुआ यौवन
तुम्हारी मदमाती हुई बांहें
विराटता का अहसास कराते तुम्हारे वक्ष
उदारता और करूणा से भरी ये आँखें
सब खींच रहा है मुझे तुम्हारी ओर
क्या तुम बता सकती हो मुझे इसका कारण

तुम्हें यहाँ एकटक निहारते हुए
पता नहीं क्यों लग रहा है मुझे ऐसा
कि पहचानता हूँ मैं तुम्हें सदियों से
कोई गहरा रिश्ता है मेरा और तुम्हारा

तुम्हारी झिलमिलाती केशराशि के अपार सौन्दर्य के
मोहपाश में बँधा रहा हूँ मैं जन्म जन्मांतर
कितने-कितने रूपों में देखा है मैंने तुम्हें
मैंने जाना है तुम्हें कितने ही नामों से
तुम्हारी आँखों की दृष्टियों ने मुझे
तुम तक पहुँचाया है कितनी ही बार
नदियों, घाटियों और जंगलों में
तुम तक रस्ता दिखाया है मुझे
कितनी ही बार तुम्हारी बांहों ने सहारा दिया है
जब-जब मैं निराश और हताश हुआ हूँ
पार कर आया हूँ मैं कितनी ही पाषाणी सभ्यताएँ
इतिहास के कितने मरुस्थलों को लांघ आया हूँ
कितने ही बीहड़ जंगलों से गुजरकर
मैं तुम तक पहुँचा हूँ सही सलामत

आज भी एक समन्दर की तरह
अपने हृदय की धड़कनों में डूबता उतराता
मैं आज तुम्हारे सामने खड़ा हूँ
जाने किसकी तलाश मुझे यहाँ तक लाई है
किसके लिए मैं यहाँ आया हूँ
क्या तुम बता सकती हो मत्स्य कन्या।

बताओ तो मत्स्य कन्या
कहीं इस धरती ने तुम्हें
अपने मोहपाश में तो नहीं बाँध लिया
जैसे बाँधे है ये असंख्य मनुष्यों को
मगर तुम तो मनुष्य नहीं हो मत्स्य कन्या

आज जब मनुष्य ही ढूँढ रहा है
सूदूर अंतरिक्ष में अपना ठिकाना
तुम्हें कैसे भा गयी ये धरती
कुछ तो कहो मत्स्य कन्या
शायद तुम्हारे पास कुछ हो कहने को
जिससे प्यारी लगने लगे ये धरती
इस अभागे मनुष्य को

तुम्हें अपने घर की याद तो आती होगी
तुम्हारे घरवाले, तुम्हारी सखियाँ
सब याद तो आते होंगे तुम्हें
अपने घर जाने को मन तो करता होगा तुम्हारा
समन्दर से इतनी दूर कब से हो तुम यहाँ
इस पाषाणी और स्वार्थलोलुप मानवी सभ्यता के तट पर
अपनी थकी और टूटी देह लिए
इतना विछोह कैसे और क्यों सह रही हो तुम

तुम्हें तो याद ही होगा अपने घर का पता
क्यों नहीं बैठ जाती किसी नाव पर
कोई न कोई मछुआरा तुम्हें पहचान कर
छोड़ ही देगा तुम्हें तुम्हारे घर

ये माना कि मछली पकड़ते हैं ये मछुआरे
मगर किसी भटकी हुई मत्स्य कन्या को
उसके घर छोड़ आते हैं मछुआरे अभी भी
एक मछुआरे ही तो हैं
जो समन्दर से करते हैं अभी भी प्रेम
अपने घर, अपने बच्चों और अपनी पत्नी की तरह

मछुआरे अभी भी समन्दर से उतना ही लेते हैं
जितने भर से चल जाए उनकी गृहस्थी।

# तुम ही तुम थे

**डॉ. मनोज कुमार**
असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय

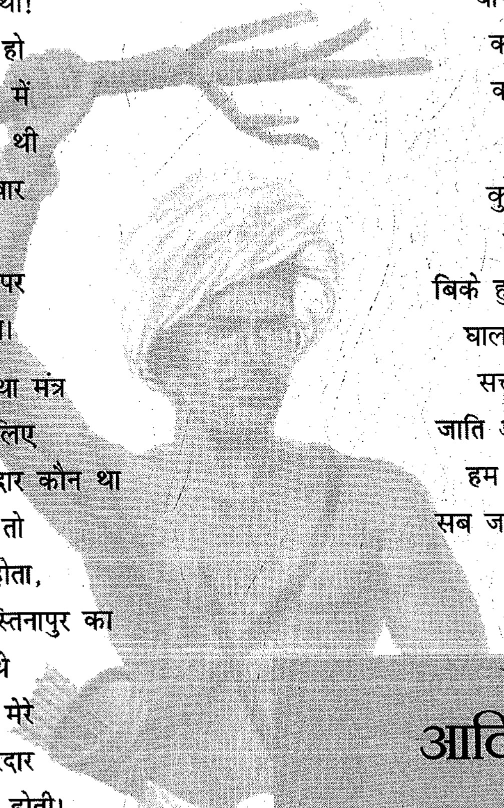

तुम सच कहते हो साथी!
तुम अकेले देशभक्त हो
तुमने ही ज़ंगे आज़ादी में
सबसे बड़ी कुर्बानी दी थी
तुम ही मरे थे बार-बार
हर बार तुम्हें ही
लटकाया गया सूली पर
हर जगह तुम ही थे।

तुमने ही राम को दिया था मंत्र
सीता को बचाने के लिए
तुम से अच्छा लंका का पहरेदार कौन था
सही में तुम न होते तो
रावण का अंत नहीं होता,
नहीं जान पाता कोई दुख हस्तिनापुर का
तुम ही युधिष्ठिर थे
शैय्या पर लेटे भीष्म मेरे
सत्य के अकेले पहरेदार
तुम न होते तो धरती न होती।

तुम काल से परे थे मेरे अर्जुन
तुम तब भी थे
जब दु:शासन ने द्रौपदी को
वस्त्रहीन किया था,
लूटा था जब गौरी ने सोमनाथ का मंदिर
जब खिलजी की तलवार
हिन्दुस्तान के सीने पर वार कर रही थी
अंग्रेजों के साथ खड़े थे तुम
तुम ही थे एलिजाबेथ के वफादार।

हम कहीं नहीं थे
न सिंधु में न हिंदु में न बिंदु में
न गांधी की हत्या में
न जवाहर के लाल में
न बासठ में न पैंसठ में,
तुम ही आपातकाल में

बोफोर्स के दलाल में
कॉमन के खेल में
कोल के गोल में।

तुम ही तुम थे
कुर्सी के चमचों में
कान में गाल में
बिके हुए जमीर के सवाल में
घाल में मेल में ढाल में
सत्ता की हर चाल में
जाति और धर्म के बवाल में,
हम कहाँ थे मेरे अर्जुन,
सब जगह तो तुम ही तुम थे।

# आदिवासी स्त्रियाँ

**निर्मला पुतुल**

उनकी आँखों की पहुँच तक ही
सीमित होती उनकी दुनिया
उनकी दुनिया जैसी कई-कई दुनियाएँ
शामिल हैं इस दुनिया में / नहीं जानतीं वे

वे नहीं जानतीं कि
कैसे पहुँच जाती हैं उनकी चीजें दिल्ली
जबकि राजमार्ग तक पहुँचने से पहले ही
दम तोड़ देतीं उनकी दुनिया की पगडण्डियाँ

नहीं जानतीं कि कैसे सूख जाती हैं
उनकी दुनिया तक आते-आते नदियाँ
तस्वीरें कैसे पहुँच जातीं हैं उनकी महानगर
नहीं जानती वे! नहीं जानतीं!!

साभार

# एहसासों के घेरे में

**आशुतोष पाण्डेय**
असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय

तुम्हारी बाहों के घेरे में
निरन्तर मुझे एहसास होता रहा
कोई है, कोई है, कोई है
लोग आते रहे, लोग जाते रहे
डूबते सूरज की परछाइयाँ
लम्बी और लम्बी होती गईं
स्वर्णिम किरणों पर
बादलों का पहरा
और सख्त होता गया
मगर तुम स्थिर रहे

भावनात्मक पराजय से
निराशा के जलाशय में
कितनी ही नावें डूब गईं
किनारे आँखों से ओझल हो गये
किन्तु मैं सुरक्षित रहा
उस असीम अटूट बंधन में

अचानक मेरी कल्पना ने इरादा बदला
और मुझे छोड़ दिया
यथार्थ के धरातल पर
तनहा, अकेला, अशांत
भटकने के लिए

रात की मादकता
अब समाप्त हो चुकी थी
रजनी का स्थान
ऊषा ले चुकी थी
मुझे एहसास हुआ
ओस की कुछ नन्ही-नन्ही बूँदें
कंकरीट की चादर को भेदकर
मेरी पलकों पर आ टिकी थीं
तन-बदन की पीड़ा
अंतर की वेदना
पक्षियों के कलरव से निकलकर
बाहर आने लगी थी

शून्यता में शोर
और शोर में शून्यता का बोध
और सघन होता गया
मुझे महसूस हुआ
शायद मुझसे कुछ खो गया
शायद मुझसे कुछ छूट गया
शायद मुझसे कुछ रूठ गया
मैं समझ नहीं पा रहा था
क्या था वह
जो मुझसे खो गया
जो मुझसे छूट गया
जो मुझसे रूठ गया
हाँ शायद वह सुरक्षा कवच
जिस पर मुझे
खुद से ज्यादा भरोसा था
वह मुझसे खो गया
बाँहों का वह घेरा
मुझसे छूट गया
वक्त का प्रवाह मुझसे रूठ गया
फिर भी एहसासों के
उस असीम, अटूट बंधन में
मैं अभी भी सुरक्षित था
अभी भी सुरक्षित था
अभी भी सुरक्षित था

# उम्मीद अभी ज़िंदा है...

**आशुतोष पाण्डेय**

सिसकियों में क़ैद आँसुओं को छलकने दो
क़नात के परदों के उस पार की सियासत को झलकने दो
मुर्दों से हत-प्राण बुद्धिजीवियों के लहू को बलकने दो
ताकि, सब जान सकें
उसकी संवेदनाएँ मरी नहीं
तुम्हारी संवेदनाएँ खरी नहीं
और,
उम्मीद अभी ज़िंदा है।

# कायदा

**डॉ. संतोष सिंह**
असिस्टेंट प्रोफेसर (अतिथि), सत्यवती महाविद्यालय

हर रूप में
हर क्षण में
जो कौंधता है हृदय से लेकर मस्तिष्क तक
मेरी धमनियों में जो प्रतिपल रिसता हैं
वह है तुम्हारा सुख
हाँ मैं स्त्री हूँ
बेटी संगिनी माँ हूँ
मेरी चिन्ताओ की
आशाओं की
अनगिनत सवालों की धुरी भी तुम
मौन जवाबो में
खाली नेत्रों से लेकर
तनी भुजाओ तक
एक प्रश्न ही हर क्षण कौंधता हैं मस्तिष्क में
कि क्या मात्र तुम ही मुझे बनाते हो
तुम मेरा मैं बनकर क्यों अहमते हो
मेरी पहचान के सरोकार क्यों बनते हो
क्यों मेरे जन्म की पहचान मात्र तुम हो
जीवन के हर अवसान में
तुम ही क्यों
निर्वाण के मार्ग बनते हो..

हाँ मैं स्त्री हूँ
जाना हैं मैंने
कि बेशक दुनिया का हर कायदा
तुमसे होकर गुजरता है
लेकिन इस कायदे को मैं ही निभाती हूँ
तुम्हारे ही किये छल से
तुम्हें हराती नहीं
हर दिन जीतती हूँ।
मेरी सहजता ही हैं
जो तुम्हारे नियम स्वीकार्य होते हैं
मैं ही यह पाठ
पीढ़ी दर पीढ़ी ढोती हूँ
बेटी को लड़की सी बनाती हूँ
समय की शिला पर यह पाप भी अंकित होगा
क्यों स्त्री होकर मैं तुमसा सोचती हूँ

हाँ मैं अब सोचती हूँ
अपनी स्वतंत्र पहचान के मायने
औरत का सोचना ही
इस कायदे को मिटाता हैं।

# उषा

**शमशेर बहादुर सिंह**

प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे
भोर का नभ
राख से लीपा हुआ चौका
(अभी गीला पड़ा है)
बहुत काली सिल जरा-से लाल केशर से
कि जैसे धुल गयी हो
स्लेट पर या लाल खड़िया चाक
मल दी हो किसी ने
नील जल में या किसी की
गौर झिलमिल देह
जैसे हिल रही हो ।
और...
जादू टूटता है इस उषा का अब
सूर्योदय हो रहा है।

# अजनबी शहर के

**डॉ. राही मासूम रज़ा**

अजनबी शहर के अजनबी रास्ते,
मेरी तन्हाई पर मुस्कुराते रहे
मैं बहुत देर तक यूँ ही चलता रहा,
तुम बहुत देर तक याद आते रहे

ज़हर मिलता रहा ज़हर पीते रहे,
रोज़ मरते रहे रोज़ जीते रहे
ज़िंदगी भी हमें आज़माती रही,
और हम भी उसे आज़माते रहे

ज़ख़्म जब भी कोई जेह्न-ओ-दिल पे लगा,
ज़िंदगी की तरफ़ एक दरीचा खुला
हम भी गोया किसी साज़ के तार हैं,
चोट खाते रहे गुनगुनाते रहे

कल कुछ ऐसा हुआ मैं बहुत थक गया,
इसलिये सुन के भी अनसुनी कर गया
इतनी यादों के भटके हुए कारवाँ,
दिल के ज़ख़्मों के दर खटखटाते रहे

सख़्त हालात के तेज तूफानों में,
घिर गया था हमारा जुनूने-वफ़ा
हम चिरागे़-तमन्ना जलाते रहे,
वो चिरागे़-तमन्ना बुझाते रहे

# खिड़की की बातें

**डॉ. प्रवीण**
असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती कॉलेज

खिड़कियों के बाहर कई तरह के रंग होते हैं, धरती के भी-आसमान के भी। पर खिड़कियाँ अपने रंगों से नहीं अपने हवादार होने से जानी जाती हैं। वे इतनी बड़ी नहीं होतीं कि दरवाजा हो जाएँ, न इतनी छोटी कि आप झरोखा या रोशनदान कहें। खिड़कियों के आकार का कोई रंग नहीं होता, बस आकार होता है, एक हवादार आकार। कई बार सोचता हूँ कि जिंदगी को हवादार खिड़की की तरह होना चाहिए, जिससे हम आसमान के बदलते रंगों को देख सकें। धरती के चौकोरपने को नाप सकें। हवा को महसूस कर सकें। इस देश को दरवाजों की नहीं खिड़कियों की सख्त जरूरत है। आप खिड़की से जब भी बाहर की ओर देखते हैं तब दुनिया कुछ ज्यादा ही हसीन दिखती है और जब आप बाहर से खिड़की को देखते हैं तब खिड़की भी कुछ ज्यादा मुग्धकारी दिखती है, बिलकुल जिंदगी की तरह।

कई बार सोचता हूँ कि हमारे सौंदर्य बोध का क्या होता यदि खिड़कियाँ न होतीं? बिना खिड़कियों के दरवाजे नहीं शोभते, न ही कमरे में जान आती है। हवाएँ तो दरवाजे से भी आ सकती हैं, कुछ दृश्य भी देखे जा सकते हैं पर फिर भी कुछ-कुछ रह जाता है कमरे में टीस की तरह, बिना खिड़कीवाले कमरे से कभी पूछ कर देखें! दरवाजा तक अधूरा लगता है खिड़कियों के बिना। खिड़की से कच्चे आमों को पेड़ पर लटका हुआ देखें या उस पेड़ पर छुपकर गाते हुए कोयल की आवाज को ढूंढें या फिर उसकी भीगी डाली पर से फड़फड़ाकर उड़ते हुए परिंदे को अनंत में लीन होते हुए देखें, यह देखना किसी तिलस्मी अनुभूति से बिलकुल कम नहीं, एकदम जादुई !

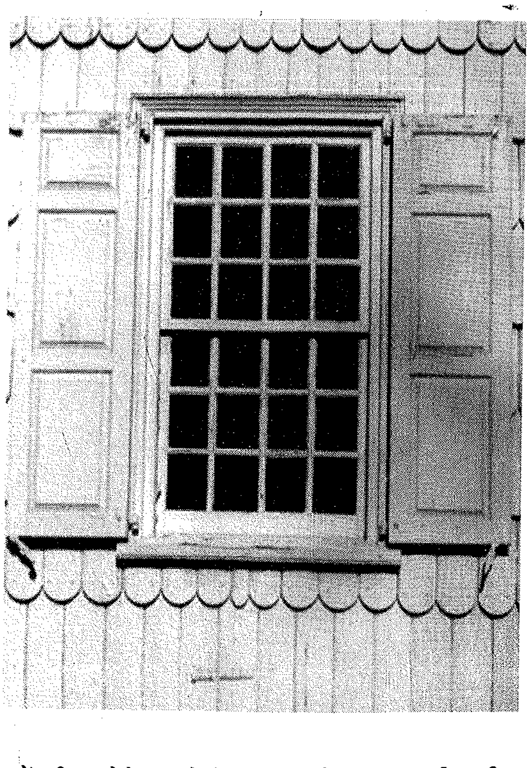

अरसा गुजर जाता है शहरों में, हम बिना आसमान देखे सो जाते हैं, चाँद को कब चाँदनी में नहाते हुए देखा, याद नहीं। धरती और समय का घूर्णन शहरों में इतना तेज़ है कि उसके छूट जाने के भय से हम उसी में खुद को लपेटे रहते हैं। ऐसे में बस खिड़कियाँ ही हैं जो कभी-कभी हमें बचा लेतीं हैं। कुछ दिखा देतीं हैं। खिड़कियाँ हमारे होने का एहसास करातीं हैं, कुछ देर सुस्ताते हुए हम उस हवादार आकार से दुनिया देखते हैं, दिमाग के फेफड़े में ताजी हवा भर जाती है। किस्मतवाले हैं वो, जिनके पास एक खिड़की है, किताबें ना भी हों, खिड़की जरूर हो। हालांकि बड़े शहरों में खिड़की की कामना किसी अय्याशी से कम नहीं, जहाँ बहुसंख्यक आबादी अँधेरे बंद कमरे में जिंदगी गुजारती है, फिर भी एक खिड़की का सपना पालना कोई पाप नहीं। खिड़कियाँ मनुष्य की रचनात्मक प्यास की तरह होती हैं, वहीं से दृश्यों का सोता बहता रहता है। बस आँखें चाहिए, तीसरी आँख। जिनके पास ये दोनों हैं, उन्होंने खिड़कियों से एक दुनिया बनायीं, बिना ईट-गारे के।

अंतिम दिनों में शाहजहाँ मुमताज को खिड़की से ही झाँका करता था, आप और हम उस मुमताज को ताजमहल कहते हैं। ताज को जितना खिड़की के सहारे समझा जा सकता है, उतना उसको भीतर से नहीं। आलीशान महलों के राज-बैठकों को उन खिड़कियों से देखने पर-जहाँ से रानियां और राजकुमारियां बैठकों को देखतीं थीं-औरत की निगाह हम पा लेते हैं, वहाँ ना जाने कितनी सिसकियाँ और सपने भीतर ही भीतर जज्ब होते महसूस होते हैं। यहाँ खिड़कियाँ बाहर की ओर नहीं भीतर की ओर खुलती हैं। जिनके पास भीतर की खिड़की नहीं होती वहाँ बाहर की

खिड़की भी गायब होती है। एक के ना होने पर दूसरी गायब हो जाती है, मानो किसी का शाप लगा हो। हवाओं के रुख का अंदाजा हम अक्सर खिड़कियों से ही लगाते हैं। आँधी और तफ़ूान आने पर खिड़कियाँ तो बंद की जाती हैं पर तूफानों के गुजर जाने पर हम सबसे पहले खिड़की ही खोलते हैं, पहला दृश्य वही से देखते हैं और कहते हैं 'अरे! दुनिया तो बिलकुल बदल गयी'!

खिड़की प्रेम की तरह है जिसे सुन्दर और कुरूप में नहीं बाँटा जा सकता, वह बस होती है और जीवन सुधर जाता है। उसका न होना प्रेम के न होने जैसा खटकता है। हमारे रीतिकालीन आचार्यों ने 'नायिका-भेद' के न जाने कितने हिस्से किए हैं, हम गौर करें तो खिड़कियाँ भी 'मानिनी' और 'मुग्धा' होती हैं। कुछ तो खुलती ही नहीं, और जब वो खुलती हैं तो हम सबको भूल-भाल जाते हैं। 'मुग्धा' खिड़की घरवालों से ज्यादा पड़ोसियों के आकर्षण का केंद्र होती हैं, कुछ पड़ोसी तो डाह भी करते हैं। बड़े शहरों के 'अपार्टमेंट संस्कृति' में बच्चे खिड़कियों से नहीं झाँकते पर छोटे शहरों और कस्बों में ये शरारती खिड़कियों पर ही झूलते रहते हैं' 'दीवार में खिड़की रहती थी' याद है? इसने तो बच्चों की सारी मुरीदें ही पूरी कर डालीं, 'कुशहर प्रसाद' की पूरी पहचान ही खिड़की से जुड़ गयी है, जो खिड़की न होती तो कुशहर भी ना होते। खिड़कियों पर कई कविताएँ, कहानियाँ और उपन्यास लिखे गए हैं, "दोस्तवस्की के 'अपराध और दंड' के तो लगभग बेहतरीन दृश्य, विचार और मार्मिक प्रसंग नायक के कमरे की खिड़की के सहारे व्यक्त हुए हैं, यहाँ ये दोनों ओर खुलती हैं। निर्मल की 'चीड़ों पर चाँदनी' में पेरिस सबसे खूबसूरती से खिड़की सहारे व्यक्त हुआ है, निर्मल खिड़की से झाँकते हुए पेरिस में हुए रंग-क्रांति को याद करते हैं कि कैसे पेरिस की छतों की खूबसूरती के पीछे इस रंग-क्रांति ने काम किया। बस, आलोचना में खिड़कियाँ गायब हैं। ऐसा क्यों है? क्या आलोचक के घर खिड़की नहीं होती? जबकि सच यह है कि आलोचक सदैव दिमाग की खुली खिड़कियों से रचना-प्रक्रिया को समझने का आग्रह करते हैं। संस्कृति की बड़ी बहसें अक्सर खिड़कियों के बिम्ब के सहारे की जाती हैं, गाँधी जी ने खिड़कियों को खुली रखने की बात इसी मुद्दे पर की थी। घर में खिड़कियों का जो आग्रह है वही जीवन में उदारता और अपनावे का आग्रह है, दोनों एक ही हैं।

हम एक ऐसे समय में जी रहे हैं, जहाँ बाजार ने हर तारीख को उपभोक्ता 'डे' में तब्दील कर दिया है, उत्सव या तो पैदा किये जा रहे हैं या उनका अपहरण हो रहा है, पर इसके बावजूद यह आग्रह गलत न होगा कि साल का एक दिन 'खिड़की-दिवस' के रूप में मनाया जाए, उस दिन जिनके पास खिड़की हो वे कम से कम दो घंटे खिड़की के पास बैठें, सोचें-समझें, 'कुछ' महसूस करें और जिनके पास खिड़की न हो वो खिड़कीवाले मित्रों की तलाश करें। 'खिड़की-पर्व' की बात थोड़ी अटपटी जरूर लगती है पर ये उन त्योहारों से ज्यादा अटपटी नहीं हैं जिन्हें आजकल बाजार ने पैदा किया है। यह ऐसा त्योहार होगा जो किसी के भीतर से बाहर की ओर आएगा, आरोपित नहीं होगा। यहाँ खरचने के लिए समय, थोड़ी उर्जा और और बहुत सारी कल्पना शक्ति चहिए होगी, जिसे रुपए-पैसे की योग्यता ने आजकल कुंद कर डाला है। अनुभूति की क्षमता ही यहाँ योग्यता होगी और दृश्यों की पकड़ ही उत्सव की सार्थकता। कुछ लोग सवाल उठा सकते हैं कि इस त्यौहार में 'मज़ा' कहाँ है, लेकिन 'मज़े' की परिभाषा कौन तय करेगा? मज़े को महिमामंडित करनेवाले कौन हैं? मज़ा अपने आप में एक तीव्र आवेग की अनुभूति है, अनुभूति की विराट परिधि में मज़ा बस केवल एक जैविक खंड भर है, दुनिया अगर मेला है तो मेले के किसी एक हिस्से में (चाहे वह कितना ही शानदार क्यों न हो) पड़े रहने वाला कभी भी पूरे मेले को देखने का दावा नहीं कर सकता। क्या पता मेले के किसी दूसरे हिस्से में कोई बेहतरीन चीज मिल जाये? अनुभूति की विविधता के आगे 'मज़ा' एक मामूली शब्द लगता है और इसका आभास खिड़कियाँ कई बार कराती हैं। टेलीविजन पर घंटों तीन सौ चैनल देखने वाले उस अकेले आदमी से पूछिए कि 'मज़ा' क्या है , वह बताएगा कि इस मजे से वह परेशान है और खिड़की से आने वाली हर आहट पर वह कैसे दौड़ता हुआ आकर झाँकता है। उसके भागने में जो वेग है उसे बुद्धू-बक्से के ऊब ने पैदा की होती है, और उसके झाँकने में जो उत्साह है वह खिड़की की बदौलत है। खिड़की की आहट में जिंदगी की सीधी धमक होती है जहाँ दृश्य पूर्वनियंत्रित नहीं होते। मज़े से मरी जा रही इस दुनिया में खिड़की अब भी एक संभावना है!

# चीजें जब लौटती हैं

**डॉ. मुकेश मानस**
एसोसिएट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय

### कहानी के प्रारम्भ में आदमगढ़ की पहाड़ियाँ

तकरीबन आधा-पौना घंटा चलने के बाद हमें सड़क के बाईं तरफ आदमगढ़ की पहाड़ियाँ दिखाई पड़ने लगीं। इन पहाड़ियों का एक सिरा तो वहाँ भी था, जहाँ से हमने चलना शुरु किया था। मगर बीच में यह कहीं खो सी गई लगती हैं। सूरज की तेज रौशनी में सोने सी चमचमाती, अपने भीतर हजारों वर्षों के अतीत और जीवनानुभवों का अथाह भंडार लिए किसी गर्व से अपना माथा उठाए अटल, निश्चल और निस्पृह सी पहाड़ियों की इस श्रृंखला ने बरबस ही मेरा मन मोह लिया। अनायास ही मेरे होठों से निकला-"वाह।" मेरी 'वाह' में अभिव्यक्त हुई मेरी उत्सुक्ता और जिज्ञासा को जानकर महेश से रहा नहीं गया।

"वाकई! बहुत अद्भुत हैं ये। और बहुत प्राचीन भी। पहले लोगों को इनकी प्राचीनता का अहसास न था। भारतीय पुरातत्त्व विभाग का हाल तो तुम जानते हो। जब चीजें लगभग नष्ट होने वाली होती हैं तब वह जागता है। फिर भी भारतीय पुरातत्व विभाग का आभार कि उसने इनकी सुध ली और इन्हें बचा लिया, इनकी प्राचीन धारोहर के साथ। वैसे बहुत कुछ नष्ट हो चुका है। नष्ट कर दिया है लोगों ने। पर जो बचा है वह भी कम मूल्यवान नहीं।" ड्राईवर ने कार को भोपाल-होशंगाबाद हाईवे से एक तरफ को उतारा और बांई तरफ बने एक रास्ते पर मोड़ लिया। थोड़ा सा चलकर ही कार रुक गई। सामने रेलवे क्रासिंग थी और फाटक बंद था।

"जीटी आ रही होगी" महेश के पिताजी बोले। वो भी हमारे साथ थे, आगे की सीट पर बैठे थे। जीटी से उनका मतलब जीटी एक्सप्रेस ट्रेन से था। छोटे शहर के लोग बसों और ट्रेनों की पूरी समय सारणी याद रखते हैं। हालांकि महेश के पिताजी आदमगढ़ की पहाड़ियों में कई बार आ चुके थे मगर वक्त काटने का जरिया समझकर वो हमारे साथ हो लिए थे। रेलवे फाटक के आगे ही एक बोर्ड लगा था जिस पर लिखा था-संरक्षित आदमगढ़ की पहाड़ियों की प्राचीन धरोहर पर आपका स्वागत है-भारतीय पुरातत्व विभाग। कुछ-कुछ ऐसा लगा जैसा आजकल का हर नेता किसी इलाके में कोई काम करवाता है तो इस बात का बोर्ड लगवाना नहीं भूलता कि फलां काम उसने करवाया है। महेश कार से उतर कर गेटमैन के पास गया और उससे बातचीत करने लगा। फिर आकर बोला-"आने ही वाली है।"

दो-तीन मिनट में एक ट्रेन हम लोगों के आगे से धड़धड़ाती हुई निकल गई। फाटक खुला तो हमारी कार आगे बढ़ी। जिस सड़क पर कार आगे बढ़ रही थी, वो एकदम सुनसान थी और ऐसा लगता था कि किसी घने जंगल के बीच से बनाई गई। लगभग दस-पन्द्रह मिनट चलने के बाद जंगल गायब हो गया। अब हम पठारीय इलाके के बीचों-बीच थे। सामने थीं आदमगढ़ की पहाड़ियाँ और उन तक पहुँचने के लिए एकदम खड़ी चढ़ाई। कार घुरघुराती हुई ऐसे ऊपर चढ़ने लगी जैसे हवाई जहाज एकदम से ऊपर उठता है। जैसे ही दरवाजानुमा चट्टान के पास हम पहुँचे ड्राइवर ने कार रोक दी।

"चलो आ गई मंजिल" महेश अपना कैमरा-वैमरा टिकाए पहले से ही तैयार था। कार के रुकते ही वह फट से कूदा। जब तक मैं कार से उतरा तब तक वह अपने कैमरे की दो-तीन बार आँखें चमका चुका था।

जिस सड़क से हम आये थे महेश के पिताजी उसी पर आगे-आगे हो लिए। मैं भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। महेश अभी भी आदमगढ़ की पहाड़ियों के मुख्य द्वार की फोटो खींचने में लगा था जो असल में दो चट्टानों का मिलन स्थल था। लगता था दोनों एक दूसरे का होंठ चूम रहीं हैं। अब किसको पता ये प्राकृतिक रूप से ऐसे ही पाई गई होंगी या मुख्य द्वार बनाने के लिए इनको ऐसे बना दिया होगा।

थोड़ी देर बाद पता चला कि महेश के पिताजी हम दोनों नास्तिकों को मंदिर में ले आए थे। महेश मंदिर के फोटो खींचने लगा और मैं मंदिर के बाहर पड़े बेंच पर पसर गया। महेश के पिता अंदर गए। मत्था-वत्था टेका, टीका-विका लगवाया और खुश होकर घंटा बजाया। फिर हम वापस लौटे।

अब हम बाकायदा पुरातत्त्व विभाग का नोटिस बोर्ड पढ़कर संरक्षित पहाड़ियों को देखने घुसे। बजरी से बनाए गये रास्ते पर चलते हुए हम ऐसी जगह पहुँचे, जहाँ एक चटान ऊपर आसमान की तरफ मुँह किए खड़ी थी। लगता था जमीन में काफी गहरे धँसी हुई होगी। मैं तो उसे 'इसमें क्या खास है' सोचकर आगे बढ़ा जा रहा था कि महेश ने रोक दिया।

"वो देखो" उसने चट्टान पर नीचे की तरफ बनी लाल रंग की कुछ आड़ी-तिरछी रेखाओं की तरफ इशारा किया। वह उन्हें देख पाया क्योंकि उसके कैमरे ने उन्हें जूम करके दिखा दिया होगा। मैंने जरा और पास होकर ध्यान से देखा तो कई मानवाकृतियाँ बनी हुई थीं ठीक वैसी ही जैसी हम अपने बचपन में बनाते थे। सरलतम ढ़ंग से खींची गई और मनुष्य की आकृतियाँ बनाती रेखाएं।

"ये मनुष्य द्वारा बनाई गई आरंभिक और प्राचीनतम आकृतियाँ हैं। लाल रंग के पत्थर से खींच कर बनाई गई।" महेश को इन पहाड़ियों के बारे में काफी ज्ञान है। वैसे वो बोलता बहुत कम है मगर मेरे साथ कैसे चुप रहता।

"इन्हें आरंभिक इसलिए बताया जाता है क्योंकि इनमें एक अनगढ़ता है, अपरिपक्वता है और चित्रकला का बचपन है। ऐसी आकृतियाँ बहुत हैं मगर ज्यादातर धुंधली पड़ गई हैं। भौत सारी आकृतियाँ तो यहाँ आते रहने वालों ने भी मिटा डाली हैं। सबसे ज्यादा नुकसान इन्हें हर साल होने वाली बारिश पहुँचाती है। बारिश की वजह से ये हर साल और धुंधली पड़ जाती हैं।"

महेश का बोलना और फोटो खींचना दोनों काम जबरदस्त संयोजित तरीके से हो रहे थे। जब उसका कैमरा बोलता तो वह चुप रहता और कैमरा चुप रहता तो वह बोलता। मगर देख दोनों एक साथ रहे थे। उसका कैमरा भी और वह भी। हम दोनों आगे बढ़े। पुरातत्त्व विभाग वालों ने वहाँ आने वालों की सुविधा के लिए चट्टानों पर नम्बर डाल दिए थे और उन तक पहुँचने के रास्ते भी बना दिए थे। आगे बड़ी और लम्बी-लम्बी दो चट्टानें त्रिभुज-सा बना रही थीं। उन दोंनो के बीच में काफी खाली जगह थी। यह जगह एक बहुत बड़े सभागार की तरह थी।

"ये यहाँ रहने वाले कबीलों का 'मीटिंग रूम' रहा होगा। झगड़े-टंटों का निबटान भी यहीं होता होगा। अगर दोषियों को सजा देने का प्रावधान रहा होगा तो उनको सजा यहीं दी जाती होगी। यहाँ पंचायत लगती होगी और डिसीजन लिए जाते होंगे। तमाम मसलों पर यहीं विचार विमर्श किया जाता होगा। सामूहिक पार्टियां, नाचना और गाना-बजाना यहीं होता होगा। आपदा के वक्त लोग यहाँ जमा होते होंगे और एक प्रकार के सुरक्षा बोध का अहसास करते होंगे।"

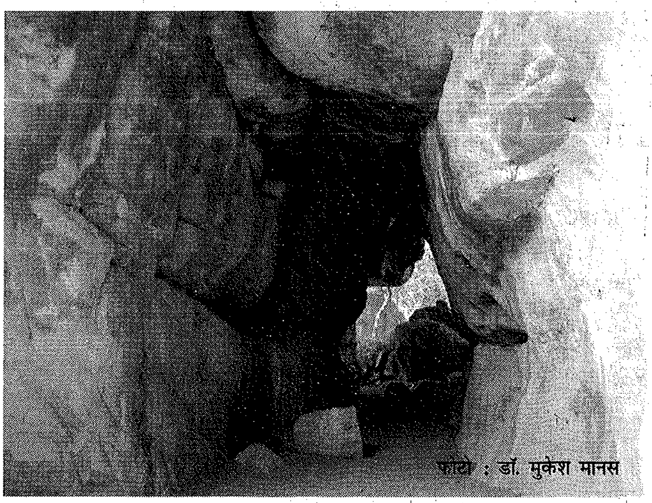
फोटो : डॉ. मुकेश मानस

महेश का वर्णन सुनकर मैं कल्पनाशील होने लगा और उन स्थितियों को विजुअलाइज करने लगा जिनमें यहाँ रहने वाले लोग रहते होंगे।

"वैसे कबिलाई समाज में आदमी की जिन्दगी का ज्यादतर हिस्सा सार्वजनिक ही रहता होगा। मेरा ख्याल है कि सिर्फ सेक्स करने के लिए ही आदमी एकान्त की तलाश करता होगा। ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि दुनिया के कई कबिलाई समाजों में सार्वजनिक रुप से सेक्स करने की परम्परा थी और उसे गलत निगाह से नहीं देखा जाता था। ये सब आदिम साम्यवादी समाज का अवशेष लगता है मुझको तो। साली पितृसत्ता ने सब कबाड़ा कर दिया।"

महेश के ज्ञान पर मुझे आश्चर्य हो रहा था। अभी तक मैं उसे बस फोटोग्राफी का पुजारी ही समझता था मगर उसके भीतर तो इतिहास का एक गजब अध्येयता मौजूद था। महेश के पिताजी हमसे आगे-आगे चल रहे थे। चार नम्बर वाली चट्टान एक छतरी की तरह थी। हम नीचे से उसे देख रहे थे। उस पर एक तरफ वही लाल रंग की आकृतियाँ थीं मगर अब आकृतियाँ सिर्फ मनुष्यों की नहीं थीं। वहाँ शेर थे, हिरण थे और हाथी भी थे। दूसरी तरफ आदमी को हिरण का शिकार करते हुए दिखाया गया था। अगली चट्टान पर बने चित्र में कुछ आदमी घोड़े पर बैठकर शिकार कर रहे थे। ये आकृतियाँ उस दौर की रही होंगी जब इन्सान ने जानवरों का शिकार करना सीख लिया होगा। इनसे कबिलाई समाज के विकास के हजारों साल के विकास का इतिहास जाहिर हो रहा था।

"क्यों जरा उधर तो देखो। बताओ वो क्या है?"

महेश ने उस चट्टान की तरफ इशारा किया जो आसमान की तरफ मुँह किए हुए थी और जिसके आगे हम लोग खड़े हुए थे। एक बनैले सूअर का विशालकाय चित्र और उसके सामने बनाई गई थी इन्सान की बौनी आकृति। इस चित्र में रेखाएँ खींचकर बनाई गई आकृति नहीं थी बल्कि चित्र में पूरा रंग किया गया था।

"सूअर इतना बड़ा और इन्सान इतना छोटा।"-मेरे मुँह से निकला

"है ना मजेदार। इस चित्र को यहाँ का पहला व्यंग्य चित्र माना जाता है।"-महेश की बात ने मुझे उस चित्र को फिर से देखने को मजबूर कर दिया। सूअर को आदमी के पीछे भागते हुए दिखाए गए इस चित्र में इन्सान के चेहरे पर भय का भाव एकदम स्पष्ट था। व्यंग्य कुछ था इस चित्र में तो शायद यही था कि इन्सानों की भीड़ तो इस बनैले जानवर को घेर घार कर मार सकती थी मगर अकेला इन्सान इस के आगे बौना ही था। चित्र बनाने वाले की सहानुभूति सूअर के साथ थी।

"ये चित्र ओरिजिनल नहीं है शायद। पहले किसी ने इसे कुछ बनाया होगा और बाद में किसी ने इसमें कुछ कलाकारी कर दी होगी"-महेश के तर्क से मैं थोड़ा-बहुत सहमत ही हो गया।

इन चट्टानों और उन पर खींची गई आकृतियों को देखने और उनको विजुअलाईज करने में मुझे इतना मजा आ रहा था कि मैं कई बार उन्हीं में खो जाता। जैसे ही ध्यान टूटता मैं आगे बढ़ लेता या कई बार महेश मुझे आवाज देकर बुला लेता। अक्सर वह मुझे फूल-पत्तियों और यहाँ-वहाँ लटकी मकड़ियों के फोटो खींचता मिलता। इसी तरह रुकते-रुकाते, घूमते-देखते हम चट्टान नम्बर सोलह पर पहुँचे। इसकी आकृति कुछ ऐसी थी जैसी किसी खुली सीपी की होती है। मैं उसके आगे ठिठक गया।

"ऐसा लगता है कि ये चट्टानें हजारों सालों से यहाँ से वहाँ खिसकती रही होंगी क्योंकि ये किसी पहाड़ी से जुड़ी नहीं लगतीं हैं। कहीं से उखड़ी हुई लगती हैं लेकिन यहाँ आस-पास में तो कोई बड़ी पर्वत श्रृंखला तो नहीं है"

"हाँ वो तो ठीक बात है। हजारों सालों में जाने क्या-क्या हुआ होगा। किस पहाड़ से उखड़कर यहाँ-वहाँ गिरी होंगी। बारिश का पानी भी इन को लगातार बहाते रहा होगा। वैसे यह इलाका जहाँ अपन खड़े हैं एक भूकम्प संवेदी इलाका है। तो भूकम्प-वूकम्प आते ही रहते होंगे और ये चट्टानें यहाँ-वहाँ बिखर गई होंगी। कई बार भूकम्प इतने तीव्र होते हैं कि आस-पास की जमीन ही उखड़कर उलट-पुलट जाती है।" महेश ने बात को संदर्भ दे दिया।

"मुझे बड़ा ताज्जुब हो रहा है कि इतनी भारी भरकम और विशालकाय चट्टानें कैसे उखड़कर यहाँ-वहाँ बिखरी होंगी?" मुझे क्या किसी को भी आश्चर्य होना बेहद स्वाभाविक है।

"क्यों? इसमें क्या है? प्रकृति सब कुछ कर सकती है। मनुष्य बौना है उसके आगे।" महेश कह तो सही ही रहा था। मगर मनुष्य का सारा विकास प्रकृति पर उसकी जीत पर ही टिका है और उसका विनाश भी। मैं उस सीप जैसी आकृति वाली चट्टान की विशालता और सुंदरता पर अचंभित था। बाहर से एक बेहद साफ-सुथरी चट्टान थी। बारिश के पानी ने उस पर अनगिनत रेखाएँ खींच दी थीं मानो समुद्र में उठती लहरें हों।

"क्यों? अंदर चलें इसके? मैं यहाँ कई बार आया पर इसके अंदर नहीं गया जबकि हर बार मेरा मन इसे भीतर से देखने का करता रहा। आज तुम साथ हो। तुम्हारे साथ चलकर देखें। क्यों चलें"

अब पता चला कि महेश इन पहाड़ियों के बारे में इतना कुछ कैसे जानता है। लगता था महेश पहले से सोच कर आया था। महेश की आँखें चमक रहीं थीं बार-बार और इस इंतजार में लग रहीं थीं कि कब मैं हाँ कर दूँ। मुझे लगा वह पहले से ही मेरी हाँ मान बैठा है। मुझसे बस औपचारिकतावश पूछ रहा है। मुझे साफ दिख रहा था कि वह उस चट्टान के भीतर जाने को कितना बेचैन हो रहा था। मेरे होठ हिलने से पहले ही वह उसके भीतर घुस लिया। अब मेरे पास उसके पीछे-पीछे जाने के अलावा और कोई चारा नहीं था। मैं उसे अकेले भी नहीं जाने दे सकता था। चट्टान के अंदर अन्धेरा दिख रहा था। जगह भी काफी सुनसान थी। महेश के पिता का भी कोई अता-पता नहीं था। मुझे भय की एक हल्की सिहरन सी होने लगी थी।

भीतर घुसा तो पता चला कि काफी लम्बी चट्टान थी और पीछे की तरफ काफी अन्धेरा था। महेश अपने कैमरे के बैग से टार्च निकाल चुका था। वह पूरी तैयारी के साथ आया था। उसने टार्च मुझे पकड़ा दी। मुझे अपने भय से कुछ राहत मिली।

"बारिश-वारिश के दिनों में ये जगह बेडरूम बन जाती होगी। गर्मियों के दिनों में भी यहीं आकर पसर जाते होंगे हमारे पूर्वज, क्यों? नहीं?" मेरा ध्यान टार्च की रोशनी पर था। पर कल्पना फिर से जाग्रत होने लगी थी।

जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते जा रहे थे अन्धेरा गहरा रहा था और ठंडक भी बढ़ती जा रही थी। किसी जगह से हवा के आने का अहसास भी हो रहा था। कुल मिलाकर पूरा माहौल सुविधाजनक था पर अन्धेरा मुझे रास नहीं आ रहा था। बीच-बीच में जब उसके कैमरे की आँख चमकती तो कुछ जगह पर प्रकाश फैल जाता। ध्यान लगाने के लिए इससे बेहतर जगह और नहीं होगी। तभी महेश ने ऊपर की तरफ बने एक चित्र की तरफ इशारा किया। मैंने टार्च की रोशनी उधर डाली। अद्भुत चित्र था वह। इसमें एक जानवर दूसरे के साथ काम क्रिया में लिप्त था। मगर वो क्या जानवर थे, यह स्पष्ट नहीं हुआ। अजीब सी आकृतियाँ थीं जानवरों की। वहाँ तो वैसी आकृतियाँ ही आकृतियाँ थीं। ऐसा लगता था मानों आदिम चित्रों की एक अन्तहीन गैलेक्सी थी वहाँ। महेश का कैमरा लगातार आँखें चमका रहा था और महेश लगातार आगे बढ़ता जा रहा था।

काफी आगे जाने के बाद हम रुक गए क्योंकि आगे नीचे की जमीन और ऊपर की चट्टान दोनों मिल रही थीं। अन्धेरा भी बहुत घना हो गया था और हवा भी लगभग नहीं के बराबर मिल रही थी। एक बहुत अजीब सी गंध आ रही थी। शायद हवा की कमी की वजह से ऐसा हो रहा होगा। मुझे लग रहा था कि मैं ज्यादा देर तक वहाँ खड़ा नहीं रह पाऊँगा। वो अजीब सी दुर्गंध मुझे असहनीय हो रही थी।

"महेश चलो अब चलें यहाँ से" मैंने उसे बहुत धीमी आवाज में कहा।

पर महेश जाने क्या तलाश रहा था। वो अन्धेरे में, अपने कैमरे की आँखें चमकाए जा रहा था। उसने कोई जवाब नहीं दिया। हालांकि टार्च मेरे ही हाथ में थी फिर भी मुझे भय लग रहा था। अन्धेरे से मुझे बचपन से ही डर लगता रहा है। मैं जानता हूँ कि ये मेरा फोबिया है फिर भी मैं आज तक इससे मुक्त नहीं हो पाया हूँ।

"ए मुकेश। इधर आओ। देखो तो उधर तुम्हें कुछ दिखता है या मेरा भरम है।" उसके कहने से मैं थोड़ा आगे बढ़कर उसके पास चला गया।

"लो देखो। मैं लैश मारता हूँ। तुम देखो" उसने जिस तरफ "लैश चमकाया मैंने उधर देखा। एकदम जहाँ जमीन और चट्टान बिल्कुल सटे हुए थे वहीं कोई पोटली सी पड़ी थी।

"तुम्हारी तो लाटरी खुल गई प्यारे। लगता है तुम्हें कोई प्राचीन खजाना मिल गया।" मैंने ऐसे ही कुछ मजाक सा करते हुए महेश को कहा। हालांकि कहीं भीतर मुझे भी लगा कि कुछ तो है।

''जो भी होगा मेरा तुम्हारा आधा-आधा होगा।''

"ठीक है। मगर पहले पता तो चले ये है क्या? पता चला कि खोदा पहाड़ निकली चुहिया।"

"अब जो हो। देखते हैं। जरा ये पकड़ो"

महेश ने अपने गले से अपना कैमरा निकाल कर मुझे पकड़ा दिया। मुझे मालूम था कि इस काम को वही अंजाम दे सकता है। शायद वो भांप चुका था कि मुझमें इतना साहस नहीं है। लेकिन महेश समझदार था। उसने वहीं एक पत्थर ढूँढा और उस पोटली के ऊपर फैंका। मैंने तुरन्त उसकी मंशा समझ ली। हमने थोड़ी देर सांस रोक कर इंतजार किया। मगर साँप या बिच्छु जैसी कोई चीज नहीं निकली तो महेश आगे बढ़ गया। मैं अपनी किस्मत के बारे में सोचने लगा जो शायद थोड़ी देर में ही कुछ और बन जाने वाली थी। महेश आगे बढ़ता गया। मैं उसे टार्च की रोशनी दिखाता रहा। उसने वहाँ जाकर वो पोटली उठा ली और तुरन्त मेरे पास आ गया। पोटली को नीचे रख कर उसने मेरे हाथ से टार्च लेकर उस पर डाली।

पोटली के मुँह पर कई सारी गाँठें लगी हुई थीं। महेश एक-एक करके सारी गाँठें खोलता चला गया। अंत में जो चीज हमारे सामने आई उसने हमें अचंभित कर दिया। यह किसी कागजनुमा चीज पर लिखी एक पांडुलिपी थी जिसकी भाषा भी कुछ अजीब सी ही थी। इसमें अक्षरों की जगह बहुत से चित्र बने हुए थे। शायद कोई चित्रलिपी होगी। हमने अपनी बहकती सांसों को संयत किया। सचमुच हमको कोई खजाना मिल गया था। शायद इतिहास का कोई अहम खजाना। हम जल्दी-जल्दी बाहर आ गये।

**कहानी के मध्य में एक मुलाकात**

प्रोफेसर हर्मन के नौकर ने हमें ड्राईगरूम में ले जाकर बिठा दिया। हमें पानी-वानी देने के बाद बताया गया कि साहब किसी से फोन पर बातचीत कर रहे हैं।

"कोई बात नहीं तब तक अपन भी सुस्ता लेंगे।"

बात तो सही थी महेश की। वह होशंगाबाद से लगभग अस्सी किलोमीटर तक अपने खटारा स्कूटर पर मुझे बिठाकर यहाँ भोपाल ले आया था। रास्ते में दो-तीन बार खराब हुआ महेश का स्कूटर और हर बार महेश ने उसे ठीक कर लिया। अब पता चला कि वह न सिर्फ एक अच्छा फोटोग्राफर है बल्कि एक अच्छा स्कूटर मैकेनिक भी है। लेकिन जिस हाईवे से हम आये थे वह सिंगल लेन हाईवे था और सिर्फ कहने के लिए हाईवे था। बस एक गलती हो गई मुझसे। हाईवे की सड़क पर कितने गड्ढे थे मैंने गिने नहीं। अगर मैं गिन लेता तो शायद यह हाईवे अपने गड्ढों की संख्या के लिए वर्ल्ड रिकार्ड बुक में आ जाता। गड्ढो से बचते तो ट्रक घेर लेते। हिन्दुस्तानी ट्रकवाले तो हाईवेज के राजा होते हैं। पूरी सड़क उनकी होती है, वह चाहे एक लेन की हो या दस की। कितनी ही बार हमको स्कूटर सड़क से नीचे उतारना पड़ता और तब लगता कि अब गिरे कि तब गिरे। जब शहर भोपाल का छोर छू लिया तब जाकर मेरी जान में जान आई। महेश भी शायद थक गया होगा तभी तो उसने सुस्ताने की बात कही। पर उसके सुस्ताना शब्द के इस्तेमाल पर मुझे हँसी आ गई। शायद मेरे भीतर पैदा हो चुकी भाषा की एक खास किस्म की अभिजात्यता की वजह से। कुछेक पल बाद ही महेश ने कैमरा निकाल लिया और प्रोफेसर साहब के घर की ही फोटोग्राफी शुरू कर दी।

ड्राईगरूम काफी बड़ा था। ड्राईगरूम क्या था एक छोटा-मोटा अजायब घर था। ड्राईगरूम में बहुत प्राचीन मूर्तियों, बर्तनों और ऐसी ही अन्य चीजों की तस्वीरों की प्रदर्शनी ही लगी हुई थी। प्रोफेसर हर्मन का ड्राईगरूम अपने आपमें एक अदभुत जगह थी। मेरा मन हुआ कि मैं उन्हें जरा पास से देखूं। वहाँ कई मूर्तियां थीं जिनको देखकर ही लग रहा था कि वे अति प्राचीन हैं। दीवार के एक कोने में गौतम बुद्ध की एक मूर्ति थी, जिसके सिर का कुछ हिस्सा टूटा हुआ था। इस मूर्ति की एक खास बात जिसने मेर ध्यान खींचा वो यह थी कि इस मूर्ति में गौतम बुद्ध का सर एकदम गंजा था। बुद्ध की ऐसी मूर्ति मैंने पहले कभी नहीं देखी थी, जिसमें बुद्ध का सर खांटी हिन्दुस्तानी स्टाईल में गंजा हो। बुद्ध की मूर्ति के पास ही एक पत्थर रखा हुआ था जिस पर अजीबो-गरीब से कुछ चित्र खुदे हुए। मैंने अंदाजा लगाया कि यह कोई चित्रलिपि जैसी चीज होगी। अगर वह लिपि थी जो उसका एक भी अक्षर मेरी पहचान का नहीं था। ऊपर की तरफ जो अलमारी थी उसमें कुछ किताबों जैसी पोथियाँ रखीं हुई थीं जो सजिल्द नहीं लग रही थीं क्योंकि उनके सभी पृष्ठ अलग-अलग दिख रहे थे। शायद यह प्राचीन पोथियाँ होंगी बिल्कुल वैसी ही जैसी हम लोगों को मिली है।

"नमस्कार महेश जी। माफी चाहता हूँ आप लोगों को इंतजार करना पड़ा" मैं पीछे से आई आवाज की तरफ मुड़ा जिसने हिंदी को एक बिल्कुल अलग टोन में बोला था। सामने जो व्यक्ति देखने को मिला उसकी मुस्कान और आँखों की चमक ने मुझे मोहित कर दिया।

"आप तो बड़ी अच्छी हिन्दी बोलते हैं प्रोफेसर हर्मन" मैंने एक विदेशी के मुँह से अपनी राष्ट्रभाषा (जिसके पास राष्ट्रभाषा जैसा कुछ भी नहीं है) सुनी तो मैं तारीफ किए बिना नहीं रह सका।

"अरे नहीं। आप नाहक मेरी तारीफ कर रहे हैं। मैं तो अभी भी सीख ही रहा हूँ। हिन्दी भाषा तो मुझे आ गई है लेकिन उसका उच्चारण मैं अभी भी ठीक से नहीं जानता हूँ। मैं एक जर्मन हूँ इसलिए हिन्दी को जर्मन लहजे में बोलता हूँ मगर मैं हिन्दी को हिन्दी के लहजे में बोलना चाहता हूँ।"

"क्या आपको लगता है कि किसी भाषा को उसके स्थानीय उच्चारण में बोला जाना जरूरी है। मैं ऐसा नहीं समझता। मुझे लगता है कि किसी भाषा को जितने लहजों में बोला जाये उतना ही उस भाषा की स्वीकृति बढ़ेगी और उसका विस्तार होगा।"

महेश ने सिर हिलाकार और आँखें चमकाकर मेरी बात पर अपनी सहमति दिखाई। यह एक बहस का सिरा था जो हमने अनायास ही पकड़ लिया था।

"देखिए साहेबान इससे पहले कि यहाँ एक बहस शुरू हो जाए मैं अपनी स्थिति साफ कर देना चाहता हूँ। भई मैं हूँ एक पुरातत्ववेत्ता। और मेरे लिए किसी भाषा का वास्तविक उच्चारण जानना बहुत जरूरी है। शब्दों के रूप, उनकी बनावट आदि चीजों से मैं भाषा को पकड़ता हूँ लेकिन केवल उच्चारण ऐसी चीज है जो मुझे उस भाषा की स्थानीयता से वाकिफ करवाता है।"

"लेकिन सर यह बताईए कि जो भाषाएँ आज लुप्त हो चुकी हैं और जो आज कहीं नहीं बोली जातीं उनका उच्चारण कैसे पकड़ेंगे?

"सवाल आपका बिल्कुल सही है पर मेरे पास एकदम सटीक उत्तर नहीं है। फिर भी मैं आपको उत्तर दूँगा। बात ये है कि देखिए कोई भी भाषा कभी भी पूरी तरह से लुप्त नहीं होती। उस भाषा से निकलकर जो भाषाएँ विकसित होतीं है या जो उसके समांतर विकसित होती हैं उसके अवशेष ऐसी भाषाओं में रह जाते हैं। ये अवशेष ही हमें उस भाषा के वास्तविक उच्चारण तक ले जाते हैं"

उत्तर देते हुए प्रोफेसर हर्मन के चेहरे पर एक हल्की स्मिति दिखी, जिसने उनके चेहरे की चमक में इजाफा किया। शायद उन्होंने यह जान लिया था कि अब मैं उनका कायल हो रहा हूँ। और मैं हो भी रहा था। एक खामोशी पसर गई माहौल में। महेश ने भांप लिया कि अब उसी को बात आगे बढ़ानी है।

"जो पोथी मैं आपको दे गया था उसके बारे में कुछ निष्कर्ष निकाला आपने?"

प्रोफेसर हर्मन को मालूम था कि हम उनके पास किसलिए आए हैं। पिछले दिनों जो पोथी आदमगढ़ की पहाड़ियों में मिली थी उसके साथ हम लोग कई दिनों तक माथा-पच्ची करते रहे। अपनी और अपने कुछ इतिहास और साहित्य में दिलचस्पी रखने वाले अपने सभी मित्रों की नोलेज पावर को निचोड़ डाला लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। एक बात तो हम दोनों को समझ आ गई थी कि वो पूरी पोथी जिस भाषा में लिखी हुई थी, उससे हम या हमारे मित्र सभी नावाकिफ थे। हम दोनों को ही ये लग रहा था कि हमारे हाथ कोई बेहद प्राचीन पोथी लग गई है जो भारतीय साहित्य, संस्कृति और इतिहास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण साबित होने वाली थी। फिर हमने इतिहास विशेषज्ञों से राय मशवरा करना शुरू किया। दिल्ली के एक इतिहासकार से हमें पता चला कि शहर भोपाल में ही इतिहास के एक जर्मन प्रोफेसर रहते हैं जिनका नाम हर्मन है और वो साल के तीन महीने भोपाल में बिताते हैं अपने शोधकार्यों के संदर्भ में। महेश तो भोपाल आता जाता रहता था। उसने प्रोफेसर हर्मन के साथ एक मुलाकात तय की। मेरी तबियत ठीक न होने की वजह से वो खुद ही उनसे मिलकर आया और उन्हें पोथी भी दे आया था। प्रोफेसर हर्मन ने उसे एक सप्ताह बाद आकर मिलने को कहा।

"देखिए उस पोथी के बारे में सबसे पहली बात तो मुझे आपसे यही कहनी है कि मेरे हिसाब से, मेरा अनुमान है गलत भी हो सकता, और ज्यादा प्रमाणिक होने के लिए ज्यादा समय और अनुसंधान की जरूरत है पर फिर भी लिपियों को समझने और उनको पढ़ने की जितनी मेरी दक्षता है उसके हिसाब से यह हिन्दुस्तान में अब तक पाई गई सभी प्राचीन पोथियों से भी प्राचीन है। बल्कि मैं जोर देकर कहना चाहूँगा कि यह एक अति प्राचीन और अति दुर्लभ पोथी है। यानी आपके हाथ यह एक ऐसा खजाना लगा है जो अनमोल है और यूरोप में इसकी कीमत लाखों डालर हो सकती है।"

लाखों डालर सुनकर हम दोनों एक दूसरे को देखकर मुस्कुराए।

"तब तो यही किया जाए। इसे बेचकर कुछ ठाठ किए जायें" हम सब खूब ठहाका मर कर हँसे।

"अरे तब तो बहुत मजे की बात होगी"

अब प्रोफेसर हर्मन भी मजाक के मूड में आ गए। तभी चाय आ गई। परोसी जाने लगी तो प्रोफेसर साहब बोले-"भई, हिन्दुस्तानी चाय का जवाब नहीं। और उस पर अगर वो चाय हमारे शफीक मियाँ बनाएं तो उसका मजा ही कुछ और है। शफीक मियाँ चाय में पता नहीं क्या कर डालते हैं कि पीते ही मुँह से निकलता है-'भई वाह!' आज ये हमारे यहाँ मात्र दो हजार रुपल्ली पर काम करते हैं। अगर कल ये जर्मनी में चाय की दुकान खोल लें तो इतनी कमाई होगी कि मेरे जैसे चार नौकर रख लेंगे।"

सब हा हा करने लगे। शफीक मियाँ 'अरे साब क्या आप भी' कह कर भागे।

मैं प्रोफेसर साहब की दरियादिली और उनकी इंसानियत के आगे झुक गया। यह था उनके नौकरों के साथ उनका बर्ताव। तारीफ करने में जरा कंजूसी नहीं। मुझे याद आया प्रसिद्ध भारतीय मनोवैज्ञानिक का वो कथन कि हम हिन्दुस्तानी कंजूस भी बहुत होते हैं और खर्चीले भी। लेकिन एक बात जिसमें हम हमेशा कंजूस बने रहते हैं वह है दूसरों की तारीफ करना। दूसरे की तारीफ करते ही लगता है मानों हम सामने वाले से कुछ कमतर हो गए।

हँसी-मजाक के बाद काम की बात फिर से शुरु हुई।

"देखिए जैसा मैंने कहा कि यह एक अति प्राचीन पोथी है और इसमें जो लिपि है वह लिपि अब तक हिन्दुस्तान में पाई गई लिपियों से भी प्राचीनतम है। मैं इसे पूरे दायित्व के साथ प्राचीनतम कह रहा हूँ। इसकी वजह ये है कि इस लिपि में ज्यादतर इस्तेमाल किए गए चित्रक्षरों को बहुत मेहनत करने के बाद भी मैं पूरी तरह से पढ़ पाने में अक्षम हूँ। अब मुझे बैठे-बिठाए मेरे मन का काम मिल गया है। इसके लिए मैं आप खोजियों का बेहद शुक्रगुजार हूँ। अगर आपको मुझ पर भरोसा है तो ये पोथी आप मुझे दे दें अन्यथा जहाँ आप ले जाना चाहें ले जा सकते हैं।"

"हमें आप पर पूरा विश्वास है प्राफेसर साहब। वैसे भी हम इसका क्या करेंगे? हमारे लिए यह किसी अजूबे से कम नहीं है। मैं

ज्यादा से ज्यादा इसके फोटो खींच सकता हूँ। हम इसे भारतीय पुरातत्त्व विभाग को भी दे सकते हैं मगर वहाँ इस पर क्या काम हो पायेगा भगवान ही जाने। बेहतर है कि यह आपके पास ही रहे"

महेश ने सही ही कहा था। मुझे खुद भी यही लगा कि अगर यह पोथी हमने सरकारी पुरातत्त्व विभाग को सौंपी तो उस पर काम तो क्या होगा लेकिन वह यूरोप का रास्ता जरूर देख लेगी। और हमारी लॉटरी लगने की बजाए हम किसी और की लाटरी लगवा देंगे।

"लेकिन एक बात बताईए सर। आपने कहा कि आप इसे पूरी तरह से पढ़ पाने में अक्षम हैं। क्या इसका मतलब मैं यह निकालूं कि आप इस पोथी को थोड़ा-बहुत पढ़ सकते हैं ।"

प्रोफेसर हर्मन मेरी तरफ देखकर मुस्कुराए और धीमे से बोले-"हाँ"। उनकी हाँ ने हम दोनों को एक प्रसन्नता से भर दिया।

"देखिये अभी थोड़ी देर पहले हम बात कर रहे थे कि कैसे कोई भाषा पूरी तरह से कभी लुप्त नहीं होती। उसके अवशेष उसके बाद की भाषाओं में रह जाते हैं। ठीक इसी आधार पर मैं इस पोथी की भाषा को थोड़ा-बहुत समझ पाया। हिन्दुस्तान में एक अतिप्राचीन लिपि है जिसे 'खर' कहते हैं और जिसे अब लगभग पढ़ लिया गया है। इस 'खर' भाषा के कई चित्रक्षरों में और इस पोथी की लिप्री के चित्रक्षरों में अदभुत समानता है जिससे मैं कुछ-कुछ अनुमान लगा पाया हूँ।"

"क्या आप कुछ हमारे साथ शेयर करेंगे सर" मैं लगभग उतावला था यह जानने के लिए कि पोथी में क्या लिखा है। ज्यादा नहीं, कुछ तो पता चले।

"अरे क्यों नहीं। इस पर तो आप लोगों का हक पहले है। ऐसा है कि कुछ नाम आए हैं, जिन्हें मैं पढ़ सका हूँ। एक नाम है जिससे आप पूरी तरह से वाकिफ हैं। ये नाम है इन्द्र का। मगर इसमें एक खास बात है। वो ये कि इस नाम के साथ एक नाम और आया है जिसके बारे में हम कुछ नहीं जानते। ये नाम कुछ इस तरह से पढ़ने में आता है—महामहिम इन्द्र आर्य आदिसेन सौमित्रे, यह इन्द्र के लिए इस्तेमाल किया गया एक नया नाम है। अभी तक इन्द्र के जितने नाम पढ़े गये हैं उनमें ये एक और जुड़ गया। इससे उस तर्क के पक्ष में एक और प्रमाण मिल गया कि इन्द्र किसी एक व्यक्ति का नाम नहीं है बल्कि आर्य जाति के भारतीय शासक के लिए इस्तेमाल की जाने वाली पदवी है। नहुष की कहानी का प्रमाण तो पहले से ही मौजूद है। इसके अलावा एक नाम और है जिससे हम परिचित हैं-ये महाऋषि वशिष्ठ हैं। वशिष्ठ का मामला भी बिल्कुल इन्द्र के जैसा ही है। मैं खुद अब तक वशिष्ठ के लिए बारह नाम पढ़ चुका हूँ और सन्दर्भ सबका वही है। यहाँ भी उसको ऋषिमंडल के मुखिया के तौर पर ही चित्रित किया गया है। ऐसा लगता है कि इन्द्र के दरबार में बाकी प्रशासनिक सभासदों के अलावा कुछ ऐसे लोग भी रहते होंगे जो श्लोक लिखने वाले यानि कवि और लेखक होते होंगे। इनका काम इन्द्र के किए कामों का लेखा-जोखा रखना होता होगा। यानी मूल रूप से ये इन्द्र के स्तुति लेखक और गायक होते होंगे। इनका एक समूह होता होगा जिसे ऋषिमंडल कहा जाता होगा जिसके प्रमुख को वशिष्ठ कहा जाता होगा। इस मंडल के सदस्यों में से दो के नाम इस पोथी में आये हैं। इनमें से एक शायद पोथी लेखक का दोस्त है और दूसरा उसके दुश्मन की तरह व्यवहार करता है। एक नाम पोथी में शुरू में ही आया है जो इस पोथी के लेखक का नाम है। ये नाम सत्यकेतु सत्यमणि। इनके मामले में भी कुछ ऐसा लगता है कि सत्यकेतु इनका नाम है और सत्यमणि इनको मिली हुई उपाधि। एक नाम और है-बलि। ये नाम भी सुना सुनाया है। ये बली कहीं का राजा हैं।"

"सर क्या खाली नाम ही नाम समझ आते हैं या कोई कहानी भी बनती है" मैं कोई कहानी जानने को बेताब था

मेरी बात सुनकर हर्मन साहब हल्के-हल्के मुस्कुराए।

"लगता है आप प्रोफेसर होने के साथ-साथ लेखक भी हैं शायद"

"लेखक, ये कोई छोटे-मोटे लेखक नहीं है। बड़े कहानीकार हैं।" महेश चहक उठा।

"इसका मतलब मैंने ठीक पहचाना।" अबकी बार हर्मन साहब खूब जोर से हँसे।

"खैर आप पूछ रहे हैं तो मैं बता देता हूँ। ये बात तो सही है कि इस पोथी में जरूर एक ऐसी कहानी है जो कुछ नई बात सामने लायेगी भारत के प्राचीन इतिहास के बारे में।"

ये बात सुनकर मुझे कुछ अच्छा सा लगा। इसका मतलब था कि सचमुच ही हमारे हाथ में कोई महत्वपूर्ण चीज लग गई है।

"लेकिन ये कहानी पूरी तरह से समझ में नहीं आती"

ये सुनकर हमारी आँखों की चमक गायब हो गई और सारा मजा किरकिरा हो गया।

"हाँ कहानी के नाम पर कुछ जो समझ आता है वो ये कि इन्द्र के सैनिक किसी सेनापति के नेतृत्व में किसी ऐसे व्यक्ति को मारकर आते हैं। उस व्यक्ति का नाम इस लेखक ने दिया है महाबलि। यह नाम हमारे यहाँ पहले से मौजूद एक वामन और बलि की कहानी में मिलता है। पर ये समझ नहीं आता कि इन्द्र के दरबार का एक ऋषि ऐसे आदमी की कहानी क्यों लिख रहा है जिसे उसका आश्रयदाता अपना दुश्मन समझता है। बस इस एंगल से देखने पर लगता है कि इस कहानी में कुछ नई बात है।अगर यह बलि की कहानी भी है तो यह उस कहानी से एकदम अलग होगी जो हम आज तक जानते आये हैं । बस इतना ही अनुमान मैं इस कहानी के बारे में लगा पाया हूँ।"

थोड़ी देर के लिए खामोशी छा गई। हर्मन साहब चुक चुके थे शायद! उन्हें कहने के लिए कुछ और सूझ नहीं रहा होगा। और महेश को बात आगे बढ़ाने का कोई क्ल्यु मिल नहीं रहा होगा । और मैं तो अब वहाँ उपस्थित ही नहीं था। मेरे दिमाग की चक्की तो चलनी शुरु हो चुकी थी।

**कहानी के अंत में कई दृश्य**

**पहला दृश्य**

"क्या बात है मित्र सत्यमणि? आप बहुत उदास लग रहे हैं" धूमकेतु ने अपने मित्र सत्यमणि के कंधों पर हाथ रखते हुए पूछा।

सत्यमणि और धूमकेतु बहुत गहरे मित्र हैं तभी से जब महामहिम इन्द्र ने उन दोनों को उनकी विद्वता से प्रसन्न होकर अपने ऋषिमंडल में बतौर लिपीकार रख लिया था। यह किसी भी विद्वान के लिए सबसे बड़ा ओहदा था। मजे की बात यह थी कि दोनों एक ही गुरु के शिष्य थे और दोनों ही नियुक्ति परीक्षा में खरे उतरे थे। ऋषिमंडल के अध्यक्ष वशिष्ठ ने दोनों को गले लगाकार ऋषिमंडल में सदस्य के तौर पर सहर्ष स्वागत किया। दोनों मित्र इस मामले में भी भाग्यशाली रहे कि गुरु का आश्रम छोड़ते ही उन्हें राजसी आश्रय मिल गया जो कि बहुत कम लोगों को नसीब होता था। दोनों मित्रों ने साथ-साथ महामहिम इन्द्र के राज में बहुत लम्बा समय बिताया था। दोनों को ही सर्वोच्च उपाधियां भी मिल चुकी थीं। ऋषिमंडल के सदस्य अब खुलकर यह कहने लगे थे कि ऋषिमंडल के निवर्तमान अध्यक्ष आचार्य वशिष्ठ के सेवानिवृत्त होते ही उन दोनों में से कोई एक ऋषिमंडल का अध्यक्ष बन जायेगा।

"नहीं ऐसी कोई बात नहीं मित्र। कृपया आप परेशान न हों" सत्यमणि ने बहुत ही ठंडे स्वर में जवाब दिया।

"लेकिन कोई बात है जिसे लेकर आप चिंतित हैं। मुझसे आप छुपा नहीं सकते। आज तक मैंने आपको इतनी गहन चिंता में नहीं देखा है। आज सुबह दरबार में जब आपने महाबलि के वध का समाचार सुना है तब से ही मैं देख रहा हूँ कि आप लगातार गहन चिंता में डूबते चले गये हैं। मैं दरबार में ही भांप गया था कि कोई बात है जिसने आपको दुखी कर दिया है। दरबार से अपने निवास पर चला तो गया लेकिन ध्यान आप ही में लगा रहा। घर में मन लगा ही नहीं इसलिए आपके घर तक चला आया।"

अपने मित्र धूमकेतु की बात सुनकर सत्यमणि पिघल गए। उनके भीतर धूमकेतु के लिए अगाध प्रेम उमड़ आया। मित्र हो तो ऐसा जो बिन बोले ही मित्र का हृदय देख ले। उन्होंने बड़े प्रेम के साथ अपने मित्र का हाथ अपने हाथ में लिया और बोले-"आप ठीक कहते हैं मित्र। मैंने जब से महाबलि वध का समाचार सुना है मैं तभी से दुखी हूँ"

"क्या आप महाबलि वध को उचित नहीं समझ रहे।"

"मानना तो चाहता हूँ मगर मान नहीं पा रहा हूँ। दिमाग कह रहा कि सही है यह वध। मगर मेरा हृदय प्रतिकार कर रहा है।"

"ऐसा इसलिए हो रह है मित्र कि आप कुछ ज्यादा कवि हृदय हैं। आप महबलि जैसे शक्तिशाली योद्धा के वध से खिन्न हैं। और कोई बात नहीं है। महाबलि एक शक्तिशाली योद्धा था इसमें कोई शक नहीं है। लेकिन वह एक असुर योद्धा था और आर्यों का प्रभुत्व स्वीकार न करने के कारण महामहिम इन्द्र का स्वाभाविक शत्रु था। इसलिए उसका वध तो एक न एक दिन होना ही था। वैसे भी हम महामहिम इन्द्र के लिपिकार हैं। हमको जो बताया जायेगा हम को वही लिखना होगा। इसी काम के लिए हमको नियुक्त किया गया है।

धूमकेतु ने कह तो दी अपनी बात लेकिन हदय के किसी कोने में उनके भीतर भी कुछ द्वन्द्व की शुरुआत हो गई। उन्होंने जो कहा था शायद उनके ही भीतर से उसके विपरीत स्वर भी उठने लगा था। इन्द्र के दरबार में काम करते हुए अनेक बार उनके भीतर यह विपरीत भाव उठता रहा है लेकिन उन्होंने इसकी उपेक्षा करना सीख लिया था। सत्यमणि तब तक आसन से उठ गए और चहलकदमी करने लगे। धूमकेतु जानते थे कि जब कोई विचार सत्यमणि को गहरे मथने लगता है तब वह अक्सर यही करते हैं।

"आप सही कहते हैं मित्र, जो तथ्य बताए गए हैं, जो विवरण दिए गए हैं अब तक महाबलि के बारे में, उनको जानने के बाद महाबलि वध सही लगता है। लेकिन क्या तथ्य गलत या दुर्भावनापूर्ण नहीं हो सकते हैं। शुरू-शुरू में मैं इस बारे में कतई परवाह नहीं करता था कि हमें बताई जाने वाली बातें सही हैं या गलत। मुझे जो बताया जाता था मैं उसी को सही मानकर महामहिम इन्द्र के लिए स्तोत्र लिख डालता था। किन्तु पिछले कुछ दिनों से मुझे यह विचार मथ रहा है कि क्या हम महज लिपिकार हैं। क्या हमारी भूमिका सिर्फ इतनी ही है। फिर हमारे ज्ञान और हमारी तर्क क्षमता का क्या मतलब है। पहले मुझे लगता था कि हमें बताए जाने वाले तथ्य सही हैं किन्तु पिछली कुछ घटनाओं के बाद जाने क्यों मुझे हमें बताए जाने वाले तथ्यों पर अविश्वास सा होने लगा है। मैं नहीं जानता आपकी इस बारे में क्या राय है। लेकिन मुझे व्यक्तिगत तौर पर ऐसा लगता है कि हमें कुछ भी लिपीकृत करने से पहले हमको उस बताई गई घटना या दिए गए तथ्यों की प्रमाणिकता भी जाँच लेनी चाहिए।"

लेकिन मित्र सत्यमणि प्रमाणिकता जाँचना हमारा कार्य नहीं है। हमारा कार्य केवल बताई गई बातों को लिपिकृत करना है। हम महज लिपिकार हैं। मान लीजिए कि हम किसी तथ्य की जाँच करते हैं और वह गलत पाया जाता है तो हम इस मामले में क्या कर सकते हैं? और आप समझते हैं कि सही तथ्य महामहिम इन्द्र स्वीकृत करेंगे और हमें अपने दरबार में बने रहने देंगे। आचार्य

धूमकेतु बहस का व्यवहारिक पक्ष देख रहे थे जो सुख, शांति और सुरक्षा का पक्ष है।

"आपको नहीं लगता कि हम कुछ भौतिक सुविधाओं और पदवी की खातिर महज बौद्धिक गुलाम बन कर रह गये हैं? आप सही कहते हैं मित्र धूमकेतु कि सही तथ्य लिखने में बहुत खतरा है। पर मित्र मैं आपकी इस बात से सहमत नहीं हूँ कि हम महज लिपिकार हैं। पहले मैं भी यही मानता था। मगर अब मैं इस बात से आश्वस्त हूँ कि हम महज लिपिकार नहीं हैं हम इतिहासकार हैं। अगर मैं आपकी इस बात को मान भी लूँ कि हम केवल लिपिकार हैं तो भी क्या हमारा यह फर्ज नहीं है कि हम सही तथ्यों को लिपिकृत करें। और ऐसा करते वक्त हमें अपने तमाम पूर्वाग्रहों से भी दूर रहना होगा। मसलन महाबलि वध के विषय में बताए गए तथ्यों को क्या इसलिए सही मान लें कि वह आर्यों का शत्रु था और हम दोनों भी आर्य हैं और महामहिम इन्द्र के सेवक हैं। वह आर्य सत्ता का शत्रु है। लेकिन जरूरी नहीं कि वह दुष्ट व्यक्ति हो। महाबलि का योजनाबद्ध तरीके से, झूठ और फरेब का सहारा लेकर वध किया गया है और हमसे कहा जा रहा है हम लिखें कि उसने स्वयं अपना राज्य सेनापति वामन को दिया है और वानप्रस्थ जीवन जीने के लिए अपने परिवार के साथ पाताल गुफा में चला गया है।" कहते-कहते आर्य सत्यमणि रुक गए और आर्य धूमकेतु की आँखों में देखने लगे।

"यह आप क्या कह रहे हैं मित्र सत्यमणि। यह आप कैसे कह सकते हैं?" नई सूचनाओं ने धूमकेतु को थोड़ा बौखला दिया लेकिन शीघ्र ही उन्होंने खुद को संभाल लिया।

मैं जानता था मित्र कि आप भी सच सहन नहीं कर पाएंगे।जिस अभियान में महाबलि को मारा गया उसी में गए एक सैनिक को मैंने धर्म का वास्ता देकर यह सत्य जाना है। उसी से पता चला कि महाबलि तो अपने राज्य का बेहद लोकप्रिय और न्यायप्रिय राजा था। आस-पास के असुर राजाओं के बीच वह एक अच्छे और शक्तिशाली राजा के रूप में विख्यात था। उसका एक ही कुसूर था कि उसने आर्य सत्ता के प्रभुत्व को मानने से इंकार कर दिया था। सच जानकर मेरा हृदय चीत्कार करने लगा। मुझे लगा कि मेरा दिमाग फट जायेगा। मुझे लगा कि मैं अभी तक अपने आपसे, ज्ञान की असल परम्परा से और अपनी आत्मा के साथ अन्याय करता आया हूँ। असत्य को सत्य लिखना बहुत बड़ा पाप है मित्र। अपने आप पर मुझे बहुत ग्लानि होने लगी। जानते हैं मित्र कि आर्य साम्राज्य यहाँ केवल इसीलिए फल-फूल रहा है क्योंकि यहाँ के असुर राजाओं में एका नहीं है। सब राज्य बिखरे हुए हैं। अगर इनमें एकता होती तो यह आर्य साम्राज्य यहाँ इतना शक्तिशाली नहीं हो पाता। हमें केवल वही पता चलता जो हमें बताया जाता है इसलिए हम सच नहीं जान पाते। मैंने हिम्मत करके सच जानने की कोशिश की तो यह पता चला। और इसे जानकर दुख हुआ। दुख यह जानकर भी हुआ कि हम केवल मोहरे हैं और हम क्या करते आए हैं अब तक। लेकिन सत्य जान लेने के बाद भी क्या मैं वही लिखूँ जो महामहिम मुझसे लिपिबद्ध करवाना चहते हैं। नहीं मित्र अब मैं दृढ़ निश्चय कर चुका हूँ कि अब मैं सत्य को ही लिपिबद्ध करुँगा फिर चाहे जो हो। समय आह्वान कर रहा कि अपनी सही भूमिका निभाने का वक्त आ गया है"

कहते-कहते सत्यमणि का गला रुंध गया।

"लेकिन क्या यह आर्य सत्ता और आर्य नस्ल से गद्दारी करना नहीं होगा? आखिर हम राज्य के सेवक हैं। हमको राज्य के कामकाज के लिए रखा गया है। बदले में हमें सभी सुख-सुविधायें मिल रही हैं?" धूमकेतु के सवाल से सत्यमणि तिलमिलाए नहीं क्योंकि यह एक वाजिब सवाल था।

"ठीक है मित्र कि हम राज्य के सेवक हैं लेकिन न तो हम गुलाम हैं और ना ही यंत्र। हमारे पास विवेक भी तो है। क्या हम इस विवेक को भी ताक पर धार दें? फिर तो हम महज गुलाम होंगे या फिर यंत्र और असत्य और अप्रमाणिक तथ्य लिखकर आज तो सुखमय जीवन जी लेंगे लेकिन भविष्य के आसमान पर हम दुष्टात्माएं बनकर लटके रहेंगे" सत्यमणि की आवाज जैसे कराहने लगी। धूमकेतु ने सहानुभूति के साथ उनका हाथ थाम लिया। दोनों मित्र अपने-अपने आसनों पर बैठ गए।

तभी गृहसेवक ने भोजन के लिए निवेदन किया और दोनों मित्र भोजन कक्ष की ओर चल दिए।

**दूसरा दृश्य**

सत्यमणि ने धूमकेतु को पुनः अपने निवास पर आमंत्रित किया और उन्हें एक पोथी दिखाई। धूमकेतु ने इसे पढ़ना शुरू किया तो उनके भीतर एक अजीब किस्म का भाव जाग्रत होने लगा, साथ ही धीरे-धीरे एक भय भी पैदा होने लगा। आर्य सत्यमणि ने उनके भीतर उठते भय को भांप लिया।

"घबराइए नहीं मित्र इसे मैं बहुत सँभाल कर रखूँगा। आपको इसलिए दिखाया कि आपको पता रहे। अगर मैं आपसे पहले मर गया तो इसे आप सँभाल कर रखियेगा। मगर मैं सोचता हूँ कि इसके पूर्ण होते ही इसे किसी तरह से किसी असुर क्षेत्र के किसी विद्वान तक पहुँचा देना चाहिए।"

"यह आपने सही विचार किया है तब हमें कोई खतरा नहीं रहेगा। और यह ग्रंथ भी सही हाथों पहुँच जायेगा।"

धूमकेतु के भीतर उठता भय कुछ कम हुआ।

"आपने एक महन कार्य किया है मित्र । मैं आपका कृतार्थ हूँ कि आपने मेरा भी मार्गदर्शन किया।"

"लेकिन मित्र आपकी मित्रता मेरा सबसे बड़ा संबल है। इसी वजह से मैं ऐसा सोच और कर पाया हूँ। बस अब हमें सचेत रहना होगा। एक तो हमें सही तथ्यों को जानना है और फिर उन्हें लिपिकृत करना है। संभव हो तो उन्हें सही जगह पहुँचाना है"

अगर महामहिम इन्द्र तक इस बारे में खबर पहुँच गई तो क्या होगा" धूमकेतु का भय मिश्रित प्रश्न था।

"देखिए मित्र धूमकेतु अपने भीतर उत्पन्न भय को निकाल दीजिये। देखिए पिछली बार जो हमारी बातचीत हुई थी उस समय मैं कुछ ज्यादा ही जोश में था। उस दिन आपके जाने के बाद मैंने सारी परिस्तिथियों पर फिर से ख्याल किया। मित्र जिन परिस्तिथियों में हम हैं, उनमें हम रातों-रात परिवर्तन नहीं कर सकते। हमारा परिवार है, हमारी सतानें हैं। हम अपने लिए उनके जीवन को कष्ट में नहीं डाल सकते। इसलिए मैंने एक बीच का रास्ता निकाला है। इस रास्ते से हम सत्य भी लिख पाएंगे और सत्ता की गाज से भी बचे रहेंगे।"

"वो क्या रास्ता है?" धूमकेतु के भीतर भय काफी कम हो गया और उन्हें इस बात से भी थोड़ा आनन्द मिला कि अब उन्हें अपनी सुविधाओं और पदवी को नहीं खोना पड़ेगा।

"देखिये मित्र महामहिम इन्द्र के लिए हम वही लिखेंगे जो हमें बताया या कहा जायेगा। लेकिन इसके साथ ही हम किसी भी घटना का एक सही विवरण भी लिखेंगे और उसे किसी सुरक्षित स्थान पर संरक्षित करते जायेंगे। और इस स्थान की जानकारी हमारी संतानों के जरिए आगे चलती चली जायेगी। कोई न कोई समय ऐसा आयेगा जब इन्हें सार्वजनिक किया जा सकेगा।"

दोनों मित्रों के चेहरे पर संतोष के भाव थे।

**तीसरा दृश्य**

धूमकेतु तेजी से दौड़े चले आ रहे हैं। आर्य सत्यमणि के घर में घुसते ही वह चीखने लगते हैं

"आर्य सत्यमणि...आर्य सत्यमणि।"

अपने मित्र धूमकेतु की आवाज सुनते ही सत्यमणि अपने अध्ययन कक्ष से बाहर आए। उन्होंने देखा कि धूमकेतु बेतहाशा हांफ रहे हैं। वह बड़ी जोर-जोर से सांस ले रहे हैं। उनके चेहरे पर भय समाया हुआ है और वह पीला पड़ता जा रहा है।

"क्या हुआ मित्र" उन्होंने पूछा

"जल्दी। मित्र जल्दी। यहाँ से निकल भागिए मित्र् श्वेतपाणी ने अभी-अभी सेनापति वामन को महाबलि पर लिखी आपकी पोथी के बारे में बताया है।

"लेकिन श्वेतपाणी को उस पोथी के बारे में कैसे पता चला?" सत्यकेतु को हैरानी हुई?

"यह मैं कैसे बता सकता हूँ मित्र? हो सकता है महामहिम इन्द्र ने ही आपके घर में कोई भेदिया भेज दिया हो।" धूमकेतु ने हांफते हुए कहा।

तभी सत्यकेतु को ध्यान आया कि तकरीबन एक माह पहले एक व्यक्ति उनके घर के दरवाजे पर अपने घोड़े से एकाएक गिर गया था। वह काफी जख्मी हो गया था। सत्यकेतु ने उसे दो दिन तक अपने घर के अतिथी कक्ष में रखा था।

"मित्र सत्यकेतु श्वेतपाणी ने महामहिम इन्द्र को यह जाकर बताया और आपको मृत्युदंड देने की गुहार लगाई। महामहिम इन्द्र ऋषिमंडलाध्यक्ष आर्य वशिष्ठ से इस विषय पर मंत्रणा कर रहे हैं।"

श्वेतपाणी सत्यकेतु को कभी रास नहीं आया था। वह आवश्यक्ता से अधिक इन्द्र की चापलूसी करता था और सत्यकेतु और धूमकेतु की विद्वता और मित्रता से जलता भी था।

यह सब सुनकर पहले तो सत्यमणि खुद भी घबरा गए लेकिन जल्दी ही उन्होंने खुद को सँभाल लिया। फौरन उन्होंने कुछ काम की चीजें तलाशीं और घर के पिछले द्वार की तरफ दौड़े वहाँ उनका घोड़ा बँधा था। पीछे-पीछे धूमकेतु भी अपने घोड़े पर पिछले द्वार पर आ गए।

"आप चले जाईए मित्र" आर्य सत्यमणि ने उनसे कहा–

"नहीं मित्र अब मैं भी यहाँ सुरक्षित नहीं। अब मैं भी आपके साथ चलूँगा"

# यह नौकरानी डायरी नहीं लिखती

**डॉ. राजेश कुमार**
असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय

दलित आत्मकथा एवं स्त्री आत्मकथाओं में बेबी हालदार की आत्मकथा 'आलो-आँधारि' की विशिष्ट पहचान है। यह एक स्त्री की आत्मकथा है लेकिन मध्यवर्गीय स्त्रियों की आत्मकथा से भिन्न है। यह दलित आत्मकथा है लेकिन दलित पुरुषों की आत्मकथा से अलग है। इसमें अभिव्यक्त लेखिका के जीवन-संघर्षों को देखें तो यह दलित स्त्रियों की आत्मकथा के नजदीक लगती है लेकिन अंततः यह उनसे भी थोड़ा अलग है। इसे एक नौकरानी की आत्मकथा के रूप में पढ़ना अधिक प्रासंगिक है। यह बात ठीक है कि अधिकांश नौकरानियाँ दलित स्त्रियाँ ही होती हैं लेकिन सभी दलित स्त्रियाँ नौकरानी नहीं होतीं। ऐसे भी इस आत्मकथा में जातिवाद की समस्या पर नहीं लिखा गया है, कहीं-कहीं छुआछूत के एक दो प्रसंग आए भी हैं तो इसका सीधा संबंध जाति से नहीं जोड़ा गया है। यह तो भारतीय गृहणियों द्वारा घरेलू नौकरानियों के साथ की जाने वाली छुआछूत है। एक नौकरानी की यह आत्मकथा दलित स्त्रियों की आत्मकथाओं से इस मायने में भिन्न है कि इसमें अभिव्यक्त संघर्ष और सफलता एक नौकरानी के ही हैं, यह अंत तक एक नौकरानी की आत्मकथा है, इसमें सफलता मिलने पर भी नौकरानी का वर्गान्तर नहीं हुआ है, जबकि दलित स्त्रियों की आत्मकथाओं को दो टुकड़ों में पढ़ा जा सकता है। इनके पहले खण्ड (पूर्वार्द्ध) में दलित जीवन के संघर्षों की अव्यिक्ति मिलती है जबकि उत्तरार्ध में दलित स्त्री सफल होकर मध्यवर्ग में अपनी जगह बनाने लगती है और स्वयं उसके चरित्र में भी मध्यवर्ग की अच्छाई-बुराई की छाप-दिखने लगती है। अतः इस आत्मकथा को एक नौकरानी की आत्मकथा के रूप में पढ़ना अधिक प्रासंगिक है।

इस आत्मकथा के प्रकाशन के आस-पास ही कृष्णबलदेव वैद का उपन्यास 'एक नौकरानी की डायरी' प्रकाशित हुआ और चर्चित भी खूब हुआ। इस उपन्यास की नायिका (केन्द्रीय चरित्र) शान्ति उर्फ शानो एक नौकरानी है। यह कोई सामान्य नौकरानी नहीं है। इसे विशिष्ट बनाने के लिए लेखक ने अपनी रचनात्मक शक्ति का भरपूर प्रयोग किया है। एक नौकरानी को अपने उपन्यास की नायिका बनाकर और उसे विशिष्टता प्रदान करके हिन्दी साहित्य की सामंती ठसक को एक धक्का और देकर इसके लोकतांत्रिक बनाने में लेखक ने अपनी भूमिका निभाई है। इस क्रम में लेखक ने इस नौकरानी को इतना विशिष्ट बना दिया है कि यह विशिष्टता भी अपवाद लगने लगती है। शान्ति उर्फ शानो एक पढ़ी-लिखी नौकरानी है, लेकिन यह कोई अपवाद नहीं है। अपनी मालकिन से प्रोत्साहन पाकर वह डायरी लिखने लगती है, यह भी कोई अपवाद नहीं है। स्वयं बेबी हालदार ने भी नौकरानी के रूप में ही आत्मकथा लिखी है। शानो की डायरी की अंतर्वस्तु उसे अपवाद बनाती है। क्योंकि इसकी अंतर्वस्तु किसी नौकरानी के अनुभवों से निर्मित नहीं हुई, यह तो एक प्रतिभावान और अनुभवी लेखक की रचनात्मक शक्ति की निर्मिति है। लेखक की कल्पनाशक्ति से गढ़ी हुई नौकरानी उपन्यास का चरित्र और उसकी डायरी उपन्यास ही तो है, जिसमें लेखक ने डायरी होने का भ्रम पैदा करने की कलाकारी की है। कल्पनाशक्ति से गढ़ी हुई नौकरानी 'शानो' और वास्तविक जीवन में नौकरानी 'बेबी हालदार' के लेखन की तुलना करना दिलचस्प भी है और, महत्त्वपूर्ण भी।

'एक नौकरानी की डायरी' में 'शानो' स्वाभिमानी और संवेदनशील चरित्र है। उसके स्वाभिमान की ऊँचाई और संवेदनशीलता की गहराई गजब की है। वह अपने प्रिय एवं प्रेरणास्रोत मालिक-मालकिन का घर इसलिए छोड़ देती है कि वे किसी अन्य नौकरानी पर शक कर रहे हैं कि वृद्ध दंपत्ति की हत्या में उनकी नौकरानी का हाथ भी हो सकता है–

"–मुझे तो उस नौकरानी पर शक है।

– लेकिन, बीजी, क्यों? सिरफ इसलिए ना कि वह नौकरानी है? अब अगर कल यहाँ आपके घर में कुछ ऐसा वैसा हो जाए तो आप मुझ पर शक करेंगी?

– तेरी बात और है।

– कैसे और है? हूँ तो मैं भी नौकरानी ही!"[1]

उसकी मालकिन आज किसी अन्य नौकरानी पर शक कर रही है, कल को उस पर भी शक कर सकती है, ऐसा विचार मन में आते ही शानो ने उनका घर छोड़ दिया। उसकी अपनी ही एक स्वप्निल दुनिया है, जिसमें किसी और का प्रवेश वर्जित है। वह इस दुनिया का चित्रण अपनी डायरी में करती है, जिसे वह एक संदूक में ताला लगाकर रखती है। कोई न तो उसके स्वाभिमान को छू सकता है और न ही उसकी स्वप्निल दुनिया को।

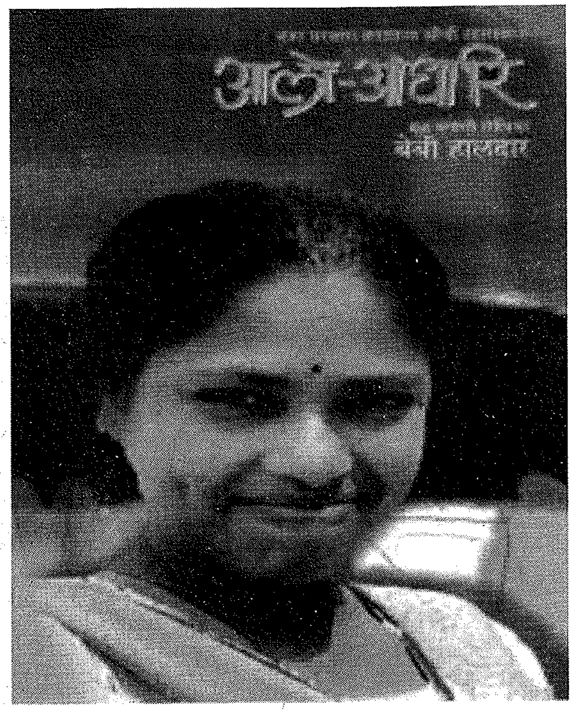


दूसरी तरफ 'आलो-आँधारि' की बेबी हालदार है वह भी स्वाभिमानी है, सपने उसके पास भी हैं लेकिन बचपन में ही उसके सपने कुचल दिये जाते हैं। उसका बचपन भी उससे छिन जाता है। वह शानो की तरह न तो किसी स्वप्निल दुनिया में जीती है और न ही अपने स्वाभिमान को अफोर्ड कर पाती है। उसके स्वाभिमान पर सबसे पहले उसकी सौतेली माँ हमला करती है। वह इस हमले से बचने के लिए पिता की तरफ ताकती है लेकिन पिता से कोई सुरक्षा कवच नहीं मिलता। वास्तव में उसके पिता ने ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उसके सपनों को कुचला है। उसी के कारण उसकी सगी माँ घर छोड़कर चली गई क्योंकि उस व्यक्ति ने न तो पिता होने की जिम्मेदारी निभाई और न पति होने की। माँ के चले जाने के बाद बेबी हालदार को अनाथों की जिंदगी जीनी पड़ती है, जबकि वह एक भरे-पूरे परिवार की बच्ची है। सौतेली माँ के आने पर उसकी जिंदगी और मुश्किल हो जाती है। वह उससे बचने के लिए कभी अपनी बड़ी बुआ के घर जाती है तो कभी छोटी बुआ के घर। इस तरह भी कितने दिन गुजारा होता। इसी बीच तेरह वर्ष की उम्र में उसका विवाह दुगनी से अधिक उम्र के व्यक्ति से कर दिया जाता है। वह यह सोचकर खुश है कि चलो अब सौतेली माँ और नर्क जैसी जिंदगी से छुटकारा मिला। जबकि वह अभी विवाह का अर्थ भी नहीं जानती।

विवाह के कुछ दिन बाद ही पति की गाली-गलौज, मारपीट और चरित्रहनन आदि बेबी हालदार के लिए विवाह के पर्यायवाची बन जाते हैं। विवाह के समय वह खुश थी कि अब उसकी सौतेली माँ उसके स्वाभिमान पर हमला नहीं कर सकेगी, लेकिन उसे अब पति के हमलों का सामना करना पड़ रहा था। सौतेली माँ को तो फिर भी लोक-लिहाज करना पड़ता लेकिन पति को तो उस पर और उसके स्वाभिमान पर हमला करने का लाइसेंस मिला हुआ था। पति से बचने के लिए वह अब कहाँ जाए? वह फिर वापस अपने मयके जाती है। सौतेली माँ उसे ताने सुनाने लगती है और माँ-बाप के बीच झगड़े शुरू हो जाते हैं। वह फिर अपनी बड़ी बुआ और छोटी बुआ के घर जाती है। अंतत: पति के पास वापस आना पड़ता है। इसी बीच चौदह वर्ष की उम्र में वह एक बच्चे को जन्म देती है। वह अस्पताल में पड़ी लावारिस माँ की तरह बच्चे को जन्म देती है। बेटा होने की खबर सुनकर उसका पति अगले दिन अस्पताल पहुँचता है तो वहाँ एक नर्स उसे आड़े हाथों लेती है–"घर में क्या कोई नहीं है कि एक रात भी उसके पास रह सकते? कल अगर वह मर गई होती तो तुम्हारा यह टिफिन कौन खाता? तुम्हारा भाग्य अच्छा था जो वह बच गई, नहीं तो उसके बचने की कोई आशा नहीं थी। तुम लोग कैसे आदमी हो कि लड़की इतने दिन कष्ट भुगतती रही और तुम चुपचाप न जाने क्या करते रहे? बेबी का वर चुपचाप सब सुनता रहा।"[2] वह बाहर भीगी बिल्ली बनकर सब सुन लेता लेकिन घर में अपनी पत्नी बेबी के दिल की बात भी नहीं सुनता। वह उससे कभी सीधे मुँह बात नहीं करता। उसने अपनी पत्नी के साथ अपनी अतीत वर्तमान की कोई भी बात कभी साझा नहीं की।

एक दिन अचानक बेबी को पता चलता है कि उसके ससुर घर पर आए हैं, जिन्हें अभी तक यह भी पता नहीं था कि उनके बेटे ने बेबी से विवाह कर लिया है। बेबी को भी अब पता चलता है कि उसका पति अनाथ नहीं है बल्कि बंगाल के दूर-दराज के इलाके में उसका भरा-पूरा परिवार है। बेबी के पिता को भी यह जानकारी नहीं थी, क्योंकि उसने भी बेटी से मुक्ति पाने के लिए जल्दबाजी में बिना किसी जाँच पड़ताल के उसका विवाह कर दिया था। बेबी के ससुर उसे अपने साथ ले जाते हैं, वह वहाँ अपने ससुराल में अपने आपको अजनबी लोगों के बीच अकेला महसूस करती है लेकिन अपने सास-ससुर और देवर से स्नेह पाकर उनमें घुल-मिल जाती है। उसे अपने पिता से भी इतना स्नेह नहीं मिला था, जितना कि अपने ससुर से लेकिन वह पति के बिना ससुराल में कितने दिन रहती, उसे वापस अपने पति के पास आना पड़ता है। उसे फिर पति की गाली-गलौज और मारपीट सहनी पड़ती है।

अब तक वह दूसरी बार गर्भधारण कर चुकी थी। पति उसकी गर्भावस्था को भी अनदेखा करके उसे बुरी तरह पीटता है, जिससे उसे गंभीर चोटें आती हैं। पीड़ा असहनीय होने पर वह उसके सामने रिरयाती है कि वह उसे किसी डॉक्टर के पास ले चले। लेकिन उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। इस हालत में वह अपने भाई

के घर पहुँचती है, वहाँ उसकी झाड़-फूँक और टोने-टोटके किये जाते हैं लेकिन कोई लाभ नहीं होता। अंततः उसे डॉक्टरी इलाज मिलता है और उसकी जान बच जाती है, लेकिन उसका बच्चा गर्भ में ही मर जाता है। इतना कुछ होने पर भी पति उसकी कोई सुध नहीं लेता। अंततः स्वास्थ्य-लाभ होने पर वह स्वयं पति के पास लौटती है। इस तरह की प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करते-करते वह तीन बच्चों की माँ भी बन जाती है। अपने घर को आर्थिक संकट से उबारने के लिए वह बच्चों को ट्यूशन पढ़ाना शुरू करती है और नौकरानी का काम करती है। अब पति घर खर्च के लिए पैसे देना बिल्कुल बंद कर देता है। वह बेबी इतना कुछ सहकर सब कुछ बर्दाश्त करने को तैयार है लेकिन पति का आतंक लगातार बढ़ता जाता है। अंततः वह उसे छोड़ने का फैसला लेती है और अपने माँ-बाप के पास लौटती है, सभी उसके फैसले का विरोध करते हैं–"इसी बीच बाबा के साथ एक दिन मेरी खूब कहा सुनी हो गई। बाबा ने कहा, तुम यदि उसके पास नहीं जाती हो तो मेरी आँखों के सामने से दूर हो जाओ। मैं बोली, मैं अब उसके घर नहीं जाऊँगी और जाना ही पड़ेगा तो इस दुनिया से ही चली जाँऊगी।"[3]

बेबी हालदार इतनी कमजोर नहीं थी कि आत्महत्या कर लेती अथवा अपने पति के आतंक को और अधिक बर्दाश्त करती। वह फैसला ले चुकी थी, उसने अलग किराये पर कमरा लेकर बच्चों के साथ रहना शुरू कर दिया। उसके इस फैसले की चौतरफा निंदा हो रही थी और उस पर दबाव बनाया जा रहा था कि पति के पास लौट जाए। लेकिन वह नहीं लौटी–"मैं अपने स्वामी के साथ नहीं गई और न कभी जाने वाली हूँ, इस बात को लेकर सभी केवल यही कहते कि अभी नहीं जाएगी तो बाद में पता चलेगा। मैं सोचती बाद में क्या पता चलेगा! जिनके स्वामी हैं ही नहीं वे क्या रह नहीं पाती। ऐसे भी लोग थे, जिनमें मेरे बाबा भी थे, जो कहते कि अलग रहने से बच्चों की पढ़ाई-लिखाई छूट जाएगी। मैं उनसे कहती, मैं भी देखूँगी कि वे कैसे पढ़-लिख नहीं पाते।"[4]

जिंदगी में आने वाली तमाम कठिनाइयों और हताशा के बावजूद बेबी हालदार के तेवर सबकुछ को देख लेने वाले रहे। जिंदगी को देख लेने वाले तेवरों के साथ, वह अपना अतीत पीछे छोड़कर फरीदाबाद चली जाती है। वहाँ उसका एक भाई और दूर के रिश्ते की बहन भी रहती है। यहाँ आकर जब वह अपने भाई का पता ढूँढती है, तो पता चलता है कि उसके भाई ने वह ठिकाना छोड़ दिया है। उसकी दूर के रिश्ते की बहन उसके भाई के नये पते पर पहुँचाती है तो उसके भईया-भाभी उसे बिन बुलाई मुसीबत के रूप में देखते हैं और वापस लौट जाने की सलाह देते हैं–"दादा ने यह सुना तो मेरा हाल-चाल पूछने की जगह मुझे डाँटना शुरू कर दिया, तू क्यों चली आई, लड़ाई-झगड़े किस घर में नहीं होते? आना ही था तो शंकर को साथ लेकर क्यों नहीं आई? रतन तो मेरे पास पहले ही से है अब तू बच्चों को लेकर कैसे रहेगी।"[5]

भाई की बेरुखी और असहयोग भी बेबी हालदार की दृढ़ता को नहीं तोड़ पाते। वह सब कुछ सहकर अपने वर्तमान और भविष्य का सामना करने को तैयार हैं, पर किसी भी तरह वह अतीत की प्रताड़ना में लौटने को तैयार नहीं। उसकी इन नई जीवन-स्थितियों की तरफ दूर के रिश्ते की बहन स्पष्ट रूप से संकेत करती है–"काम तो तुझे मिल जाएगा। वहाँ बहुत-सी औरतें काम करके गुजारा कर रही हैं। न जाने कितनी औरतें अपने आदमियों से अलग हो अकेली कमा-खा रही हैं। तू नहीं रह सकेगी? जरूर रह सकेगी लेकिन काम मिलने पर तुझे किराये से घर लेकर अलग रहना होगा। तू उनके साथ नहीं रह सकेगी।... तू इनके साथ रहेगी तो बहुत कुछ सहना पड़ेगा। वह जो भी कहेंगे, सब मुँह बंद कर चुपचाप सुनना होगा। जब तुझे काम मिल जाएगा तो कोई छोटा-सा घर-वर किराये से ले लेना। जब तक काम नहीं मिलता तब तक इनके लात-झाड़ू खाकर भी रहना होगा।"[6]

अंततः उसे काम भी मिल जाता है–एक नौकरानी का काम। अब वह पूरी तरह एक नौकरानी की जिंदगी जीने लगती है। उसे कभी सज्जन मालिक मिलते हैं तो कभी दुष्ट मालिक। उसका बड़ा लड़का भी किसी कोठी में नौकर का काम करने लगता है। वह दुष्ट मालिकों की लात-झाड़ू सहकर और अपने संबंधियों की बेरूखी सहकर भी जिंदगी को देख लेने का दम भरती है। अंततः उसे मालिक के रूप में एक सज्जन पुरुष मिलता है, जो उसे काम के बदले केवल वेतन ही नहीं देता बल्कि उसे पिता का स्नेह देता है। इतना स्नेह तो उसे अपने सगे पिता से नहीं मिला। इस सज्जन पुरुष को बेबी हालदार 'तातुश' कहकर पुकारती है। 'तातुश' उसके कुचले हुए स्वाभिमान को पानी देकर फिर से पल्लवित करता है। वह उसकी प्रतिभा को निखारता है, एक नौकरानी के भीतर छुपी लेखिका को समाने लाता है। यह लेखिका काव्यशास्त्र और आलोचना की बारीकियों को नहीं समझती लेकिन जिंदगी की बारीकियों को भली-भाँति समझती है। यह जिंदगी को कहानी-कविताओं में नहीं ढूँढती बल्कि आपबीती लिखकर अपनी जिंदगी को ही 'महाकाव्य' और 'महान उपन्यास' बना देती है। उसकी आपबीती को महाकाव्य कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है। महाकाव्य के नायक में 'धीरोदात्त' होने के जिस गुण का इतना गुणगान होता है, वह गुण आलो-आँधारि की नायिका में है। जिंदगी को देख लेने का दम भरना इसी गुण से संबंधित है। **रही बात महाकाव्य के नायक के उच्चकुल का होने की तो अब साहित्य में उच्चकुल और उच्चजाति का यह आरक्षण समाप्त**

**हो चुका है। अब उच्चकुल के लेखक भी अपने उपन्यास का शीर्षक 'एक नौकरानी की डायरी' रखते हैं** और जब वास्तविक जीवन में कोई नौकरानी आपबीती लिखती है तो कल्पनाशक्ति द्वारा गढ़ी गई 'नौकरानी की डायरी' के जादुई यथार्थ का जादू उसके सामने फीका पड़ने लगता है, उसकी पलायनवादी प्रवृत्ति भी सामने आ जाती है।

'एक नौकरानी की डायरी' की शानो और आलो-आँधारि की बेबी हालदार में सतही रूप से कई समानताएँ दिखती हैं। दोनों ने ही एक नौकरानी की जिंदगी जी है। दोनों के पिता ग़ैर जिम्मेवार, शराबी और अपनी पत्नियों के प्रति हिंसक हैं। वे न तो पिता की जिम्मेदारी निभाते हैं और न ही पति की। दोनों नायिकाओं की बड़ी बहनों का चरित्र भी एक जैसा है, उनकी वैवाहिक जिंदगी पूरी तरह असफल होती है, अंतर बस इतना है कि बेबी हालदार की बहन का पति उसे पीट-पीटकर उसकी हत्या कर देता है जबकि शानो की बड़ी बहन ऐसी नौबत आने से पहले पति का घर छोड़ देती है। दोनों के भाई उनकी उपेक्षा करते हैं, शानो का भाई तो उसकी कमाई के पैसों से नशा और आवरगी करता है। दोनों ही बदबू और गंदगी से भरी बस्तियों में रहती हैं, इन बस्तियों में जिंदगी अपने नग्न रूप में नजर आती है। दोनों नायिकाओं की जीवन-स्थितियों में ऐसी ही और कई समानताएँ मिलती हैं, लेकिन यह समानता सतही है। इसी प्रकार दोनों की जीवन-स्थितियों में सतही रूप से असामनताएँ भी गिनाई जा सकती हैं। शानो बचपन से नौकरानी का काम करती है, उसकी माँ भी यही काम करती है जबकि बेबी हालदार अपने पति के आतंक से मुक्त होने और अपने बच्चों को उम्मीदों से भरा भविष्य देने के लिए नौकरानी का काम करती है, जबकि उसके परिवार के सदस्य उसके इस फैसले के खिलाफ हैं क्योंकि वे इसे अपनी इज्जत से जोड़कर भी देखते हैं। शानो को पति से स्नेह और सुरक्षाबोध भले ही न मिला हो लेकिन माँ की ममता की छाँव उसके सिर पर हमेशा रही जबकि बेबी की माँ पति से त्रस्त होकर घर छोड़कर चली गई थी। शानो अविवाहित और अपनी मर्जी की मालिक है, जबकि बेबी को वैवाहिक जिंदगी का आतंक भी झेलना पड़ता है। दोनों की जीवन स्थितियों की तुलना का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह भी है कि दोनों को नौकरानी के रूप में दुष्ट एवं सज्जन सभी प्रकार के मालिक मिले और दोनों के भीतर की रचनात्मक शक्ति और लेखिका को उनके मालिक-मालकिन सामने लाते हैं।

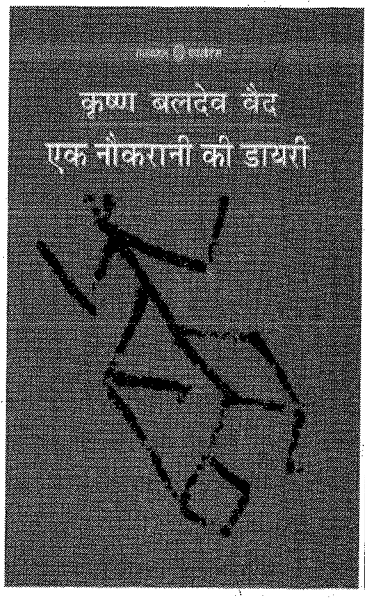


**शानो और बेबी हालदार की जीवन-स्थितियों की इस तुलना का थोड़ा महत्त्व तो है लेकिन यदि सतही ढंग से तुलना करके इतने पर ही छोड़ दिया जाए तो यह तुलना भी निरर्थक ही होगी। इसलिए इस तुलना में यह देखना भी जरूरी है कि दोनों नौकरानियों के लेखन (डायरी और आत्मकथा) की अंतर्वस्तु में भी कोई समानता है अथवा सारी समानता केवल सूचनात्मक स्तर पर है? यदि दोनों की अंतर्वस्तु में भिन्नता है तो क्या यह भिन्नता अलगाव की हद तक पहुँच गई है? यदि हाँ तो ऐसा क्यों है?**

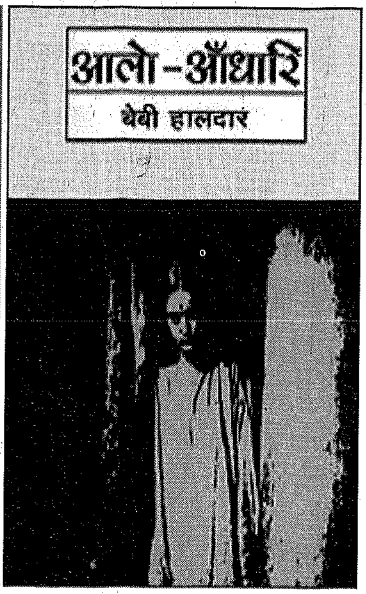


दोनों के लेखन की अंतर्वस्तु में एक समानता है, जो महत्त्वूपर्ण भी है—दोनों को स्वयं के नौकरानी होने का बोध बहुत गहरा है, इतना गहरा कि उनके अस्तित्व के साथ अनिवार्य रूप से चिपका हुआ है। शानो अपनी स्वप्निल दुनिया में जाती है तो उसे इस बोध से पीछा छुड़ाने को अवसर तो मिलता है कुछ देर के लिए वह भूल भी जाती है कि वह नौकरानी है लेकिन नौकरानी होने के बोध से मुक्त नहीं हो पाती। चूँकि उसमें इस बोध से मुक्त होने की जिद भी है, उसे कोई नौकरानी होने का बोध कराकर अपमानित करने का प्रयास करे, यह उसे कतई बर्दाश्त नहीं। अतः जब उसके मालिक-मालकिन किसी अन्य नौकरानी पर भी शक करते हैं तो वहाँ से काम छोड़कर चुपचाप चली जाती है—"मुझे सब लोग अच्छे लगते हैं जो मेरे साथ ठीक तरह से बात करें, मुझे यह पता न चलने दें कि मैं नौकरानी हूँ। मिसेज वर्मा में बस एक खराबी है कि उसे सफाई का वहम है। दस बार हाथ पैर धोने पड़ते थे, हर तीसरे दिन नाखून दिखाने पड़ते थे... इसलिए मैंने उसका

घर छोड़ दिया।"[7] बेबी हालदार के पास नौकरानी होने के इस बोध से मुक्त होने के लिए पलायन करने का न तो कोई अवसर है और न वह पलायनवादी है।

शानो और बेबी हालदार के लेखन में एक समानता और है, यह है उनकी भाषा। शानो की भाषा किसी नौकरानी की भाषा कतई नहीं है ओर बेबी हालदार की भाषा भी पूरी तरह नौकरानी की भाषा नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि कोई नौकरानी अच्छी और प्रभावी भाषा नहीं लिख सकती इसका अर्थ यह है कि दोनों की भाषा पर उनके लेखक और अनुवादकों का प्रभाव है। शानो की भाषा स्वयं कृष्ण बलदेव वैद की भाषा है और बेबी हालदार की भाषा पर उनकी आत्मकथा के अनुवादक प्रबोध कुमार की भाषा का प्रभाव आ गाया है। इस सबके बावजूद दोनों की भाषा में एक बड़ा अंतर यह है कि 'एक नौकरानी की डायरी' की भाषा किसी नौकरानी की भाषा से इतनी दूर चली गई है कि उसकी अंतर्वस्तु में भी किसी नौकरानी के बजाय स्वयं कृष्ण बलदेव वैद बोलते हुए नजर आते हैं। जबकि 'आलो-आँधारि' की भाषा में (भाषा के तमाम शुद्धिकरण के बावजूद) एक नौकरानी का जीवन सुरक्षित रहता है, अनुवादक की कलम उसे न तो दूषित करती है और न ही किसी साँचे में ढालने की कोशिश करती है। इसके विपरीत अनुवादक प्रबोध कुमार ने 'आलो-आँधारि' की भाषा बदलते समय उसकी अंतर्वस्तु और इसमें अभिव्यक्ति जीवन को बचाने की कोशिश की है, जिसमें उन्हें सफलता भी मिली है। बकौल प्रकाशक–"आलो-आँधारि की बांग्ला को प्रबोध कुमार ने इस तरह 'हैंडल विद केयर' से पाठकों के पास पहुँचाया है कि पुस्तक एक तरह से बांग्ला में ही है।"[8]

उपरोक्त दो समानताओं के अलावा 'एक नौकरानी की डायरी' और 'आलो-आँधारि' की अंतर्वस्तु में भिन्नता ही भिन्नता है। यह भिन्नता अलगाव की हद तक है। एक जैसे जीवन (दो नौकरानियों के जीवन) पर आधारित दो रचनाओं की अंर्तवस्तु में भिन्नता होना कोई खराब बात नहीं बल्कि कई मायनों में अच्छा ही है लेकिन दोनों में अलगाव अथवा विपरीतता होना कई प्रश्न खड़े कर देता है। पहला प्रश्न तो यही कि इन दोनों रचनाओं में अलगाव का प्रमुख कारण क्या है? **क्या यह दो रचनाओं के विधागत अंतर के कारण है कि 'एक नौकरानी की डायरी' उपन्यास है और 'आलो-आँधारि' आत्मकथा है? क्या इस अलगाव को सहानुभूति और स्वानुभूति की बहस में जाकर समझा जा सकता है कि 'एक नौकरानी की डायरी' सहानुभूतिजन्य साहित्य का उदाहरण है और आलो-आँधारि स्वानुभूतिजन्य साहित्य का उदाहरण है? क्या दोनों रचनाओं की तुलना को सहानुभूतिजन्य साहित्य की बहस में रिड्यूस कर देना ठीक होगा? क्या इस अलगाव को अंतर्मन के चित्रण और समाज के चित्रण के अंतर के रूप में समझा जाए कि 'एक नौकरानी के डायरी' में नौकरानी के अंतर्मन का चित्रण है और आलो-आँधारि में उसके समाज का चित्रण है? एक ही विषय-वस्तु पर एक ही कालखण्ड में लिखी गई दो रचनाओं के इस अलगाव का अध्ययन किसी भी सिरे को पकड़कर करें, कोई भी निष्कर्ष निकालें लेकिन यह अलगाव थोड़ा खटकता तो है।**

यदि हम किसी अन्य बहस में न जाकर, यह मान लें कि कृष्ण बलदेव वैद ने 'एक नौकरानी की डायरी' के माध्यम से नौकरानियों के मनोविज्ञान को समझने-समझाने का प्रयास किया है, उनके अंतर्मन की पर्तों को खोलने का, उनकी मन:स्थितियों को समझने का प्रयास किया है तो भी यह प्रश्न तो उठता ही है कि नौकरानियों के मन में झाँकने वाले लेखक के लिए क्या यह जरूरी है कि वह उनके समाज से आँखें फेर ले? यह प्रश्न लेखक पर कोई निराधार आरोप नहीं है बल्कि 'एक नौकरानी की डायरी' की कथावस्तु पर समीक्षात्मक टिप्पणी है।

'एक नौकरानी की डायरी' की कथावस्तु में बस इतना है कि 'शानो' नाम की आठवीं तक पढ़ी-लिखी एक नौकरानी है, जो अब तक कई घरों में काम कर चुकी है, जहाँ उसे कटु और मधुर दोनों तरह के अनुभव मिलते हैं। उसे 'अखबार वाले साहब' के घर में काम करना बहुत अच्छा लगता है और मिसेज वर्मा यानी बीजी भी पसंद है। इन्हीं बीजी के कहने पर उसने डायरी लिखना शुरू किया है। वह इस डायरी में लिखती है कि वह अपने मालिक और मालकिनों के बारे में क्या सोचती है? वह इसमें अपने आस-पास और अनुभवों के विषया में भी लिखती है। उसकी डायरी से उसकी पृष्ठभूमि के विषय में इतना पता चलता है कि उसके एक भाई और बहन हैं। भाई कामचोर, नशाखोर और उच्चका है। बहन अनपढ़ है और वैवाहिक जीवन की असफलता के बाद वह नौकरानी का काम करती है। उसकी बहन का पति उसके प्रति हिंसक है और नपुंसक भी। उसका पिता भी उसकी माँ के प्रति हिंसक है, नशेड़ी और गैरजिम्मेवार भी है। इसलिए उसकी माँ भी नौकरानी का काम करती है। इसके अलावा उसकी सहेलियों (नौकरानियों की मण्डली) का जिक्र भी बार-बार आता है। इनकी लीडर ललिता नाम की नौकरानी है, जो सब मालिक-मालकिनों और नौकर-नौकरानियों की सारी खबर रखती है। इसके अलावा उन लड़कों का जिक्र भी आता है जो शानो को आकर्षित करना चाहते हैं, उनमें से एक बिजलीवाला 'सुरिन्दर' है। **शानो की डायरी से प्राप्त इतनी सूचनाएँ मिलकर भी उसके समाज के जीवन का चित्रण नहीं कर पातीं। विश्लेषण तो बाद का प्रश्न है।**

**दरअसल 'एक नौकरानी की डायरी' में नौकरानी के समाज से संबंधित पात्रों के विषय में कुछ इस तरह से लिखा गया है कि यह कोई उपन्यास न होकर जनगणना विभाग का रजिस्टर हो। अथवा कोई 'पण्डा' अपने यजमान की वंशावली की जानकारी दे रहा हो। या ज्यादा से ज्यादा इतना कि कोई रिपोर्टर अपनी रिपोर्ट में कहाँ, कब, क्यों, कैसे... आदि प्रश्नों के जवाब दे रहा हो। कथावस्तु और पात्रों के चरित्र-चित्रण की इस कमजोरी का क्या बचाव किया जा सकता है? क्या इसके बचाव में यह का जा सकता है कि यह उपन्यास डायरी शैली में लिखा गया है, जिससे इसमें एक नौकरानी का रोजनामचा बनने का जोखिम शुरू से था। इस शैली में पात्रों के चरित्र का विाकस नहीं हो सकता था। यदि यह उपन्यास किसी नौकरानी का रोजनामचा भर बनकर रह गया होता तो लेखक से कोई शिकायत भी न होती क्योंकि तब इस उपन्यास को गंभीरता से लिया ही नहीं जाता।**

आखिर इस उपन्यास की प्रसिद्धि का प्रमुख कारण क्या है? दरअसल इस उपन्यास की प्रमुख पात्र नौकरानी शानो का चरित्र-चित्रण लेखक ने बड़े मनोयोग से किया है। इसके अलावा एक नौकरानी की दृष्टि से अभिजात्य वर्ग और मध्यवर्ग को देखना भी काफी दिलचस्प है। यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना भी जरूरी हो जाता है कि नौकरानी शानो की दृष्टि कितनी अपनी है? कहीं लेखक अपनी दृष्टि को ही नौकरानी की दृष्टि में भ्रमित तो नहीं कर रहा? ऐसी आशंका इसलिए मन में बार-बार आती है कि यदि इस उपन्यास में सचमुच एक नौकरानी की दृष्टि है तो उसकी दृष्टि अपने सामाजिक परिवेश में क्यों नहीं पैठती? अपनी सामाजिक स्थितियों का विश्लेषण क्यों नहीं करती? इस दृष्टि से इतनी अपेक्षा इसलिए भी है कि यह बहुत पैनी दृष्टि है। यह दर्शन और मनोविज्ञान से संपन्न दृष्टि है। (आप यह न पूछें कि आठवीं तक पढ़ी नौकरानी को दार्शनिक मनोवैज्ञानिक समझ और जादुई भाषा कहाँ से मिली?) निश्चित रूप से यह सब उसे उसके लेखक ने दिया है। ऐसे भी यदि अवसर मिले तो नौकरानी भी यह सब अर्जित कर सकती है। हालांकि लेखक ने उसे यह सब स्वयं अर्जित करने का अवसर औपन्यासिक स्थितियों में कहीं नहीं दिया है। अपना ज्ञान और भाषा सब कुछ उसे सीधे सीधे सौंप दिया है, इसमें किसी को आपत्ति क्यों हो?

इतनी संपन्न दृष्टि स्वयं के नौकरानी होने के कारणों का भी विश्लेषण नहीं करती। नौकरानी की डायरी में इसका बड़ा सरलीकृत कारण दर्ज है कि उसका बाप शराबी और गैरजिम्मेदार है। घर चलाने के लिए माँ नौकरानी का काम करती है। खर्च बढ़ने के कारण माँ की कमाई से घर नहीं चलता अत: घर चलाने के लिए उसे भी नौकरानी का काम करना पड़ेगा। आप यह न कहें कि एक नौकरानी अपने नौकरानी होने के विषय में इससे ज्यादा और क्या बता सकती है? उसने मार्क्सवादी सिद्धांत पढ़ा हैं? वह कोई अर्थशास्त्री अथवा समाजशास्त्री थोड़े ही है। आप इस नौकरानी को इतने हल्के में न ले क्योंकि यह लेखक की कल्पनाशक्ति से गढ़ी हुई विशिष्ट नौकरानी है।

इस डायरी में अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन और साहित्य सभी का आस्वादन मिल सकता है। शानो इन सभी विषयों पर अपनी डायरी में कुछ न कुछ लिखती रहती है, वह भी सूक्ष्म भाषा में। वह ठोस भाषा में ठोस विषयों पर लिखने के बजाय चीजों को अमूर्त बना देने की कला में माहिर है। वह ठोस सच्चाइयों से भागकर अपनी ही एक अमूर्त दुनिया की रचना भी कर लेती है। वह अपने नौकरानी होने के कारणों और इसकी समाज व्यवस्था पर विचार करने बजाय नौकरानी होने के बोध से मुक्त होने के लिए स्वप्निल दुनिया की रचना करती है। "मैं रहती तो इसी दुनिया में हूँ लेकिन मन करता रहता है कि किसी और दुनिया में जा रहूँ। किसी ऐसी और दुनिया में जहाँ नौकरानियां न हों लेकिन यह काम किसी न किसी को तो करना ही होगा। बस यही मुसीबत है। हर काम किसी न किसी को तो करना होगा। लेकिन मैं नौकरानी का काम न करना चाहती हूँ, न नौकरानी कहलवाना चाहती हूँ। पूरी बराबरी न सही, कुछ तो हो। इतनी ऊँच-नीच तो न हो कि कुछ लोग ऐश करें कुछ भूखों मरें।[1]"

'कुछ लोग ऐश करें कुछ भूखों मरें' इतने छोटे वाक्य में ही शानो स्पष्ट कर देती है कि उसे वर्ग-भेद अथवा वर्ग संघर्ष की भी समझ है लेकिन वह इस समझ को और आगे नहीं जाने देना चाहती। शायद इसीलिए उसने अपनी डायरी में चित्रित चरित्रों का वर्ग-चरित्र उभारने के बजाय व्यक्ति चरित्र तक ही सीमित कर दिया है। शायद वर्ग-चरित्र उभारने से उसके लेखक (कृष्णबलदेव वैद) को कुछ असुविधा होती। शानो और उसके लेखक के वर्ग हित अलग अलग हैं। शायद इसीलिए इस उपन्यास अर्थात् शानो की डायरी में वर्ग-संघर्ष के बजाय वर्ग-समन्वय पर जोर दिया गया है। यह वर्ग समन्वय का ही तो परिणाम है कि एलीट लेखक नौकरानी के चरित्र को इतनी रचनात्मकता प्रदान करता है कि वह रचना प्रक्रिया पर भी लिखती है। वह साहित्य की विधागत बारीकियों पर भी लिखती ह। वह 'डायरी' को अपने ढंग से परिभाषित करती है-"डायरी असल में अपने आप से ही बातें करने का एक तरीका। या बहाना। डायरी वही लोग लिखते होंगे जो अपने आप से बातें करना चाहते हैं। चाहने की बात भी नहीं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो चाहें न चाहें उन्हें अपने आप से कुछ बातें करनी पड़ती हैं। क्योंकि वह दूसरों से वह बातें नहीं कर

सकते।"[10] शानो 'डायरी' की कोई एक परिभाषा नहीं देती, उसकी परिभाषाएं पारंपरिक भी नहीं हैं, वह इसे हर बार नये ढंग से परिभाषित करती है। उसे डायरी कभी अपने आप से बातें करने का तरीका लगती है। कभी स्वयं को जानने पहचानने का माध्यम लगती है, **डायरी जीवन में घटित होने वाली छोटी-छोटी घटनाओं और विचारों को पकड़ने वाला ट्रांसमीटर है।** डायरी लेखन से पहले शानो जिन बातों पर ध्यान नहीं देती थी अब उन पर कई-कई दिन तक सोचती रहती है। और लिखती रहती है उसे अपनी डायरी कभी जादुई दुनिया की तरह लगती है। तो कभी फिजूल का काम लगती है। उसे लगता है-"सारी बातें किसी को भी नहीं बता सकती। यहाँ भी नहीं लिख सकती। सारी बातें कोई किसी को नहीं बताता होगा। सारी बातें किसी को बताने का मतलब उसके सामने कपड़े उतार देने के बराबर।"[11] **जब कोई डायरी में भी सच नहीं लिख सकता तो डायरी लिखने का क्या फायदा?** लेकिन लोग डायरी लिखते हैं, झूठ को भी सच की तरह लिखते हैं, लिखते-लिखते अपने झूठ को स्वयं भी सच मानने लगते हैं। शानो भी यही करती है, कभी-कभी वह पूरी तरह फर्जी किस्से गढ़ती है। कुछ भी गढ़ना और लिखना उसके लिए दिलचस्प खेल है-"यह लिखना एक खेल में बदलता जा रहा है। एक ऐसा खेल जिसका कोई फायदा नहीं। कोई नुकसान भी नहीं, नुकसान कई हो सकते हैं। सबसे बड़ा नुकसान तो यही है कि अब मैं अपनी हर बात और हरकत की तलाशी सी लेती रहती हूँ। अपने ख्यालों की भी। अपने सपनों की भी। अपने बदन की भी। कभी-कभी लगता है जैसे मैं नहीं कोई और यह तलाशी ले रहा हो।"[12]

शानो डायरी लेखन और किस्से गढ़ने के इस दिलचस्प खेल में केवल अपने ख्यालों सपनों की ही तलाशी नहीं लेती बल्कि दूसरों के विचार, व्यवहार और मानसिकता की तलाशी भी लेती है। इस क्रम में वह अपने मालिक मालकिनों की जिंदगी, उनके जीने के तरीके और मानसिकता की भी तलाशी लेती है-"अजीब बात है मोटी को अपने बेटे के बिगड़ने का कोई खतरा नहीं। आज वह उसके सामने मुझे बिटर-बिटर देख रहा था, जब मैं सफाई कर रही थी। मुझे नहीं मेरी छातियों को। वह मुझे देख नहीं घूर रहा था, बल्कि टटोल रहा था, अपनी आँखों से....मोटी ने देखा तो होगा कि उसका मोटू क्या देख रहा था। मेरा ख्याल है कि उसे अपने पति की ही चिंता है, बेटे की नहीं।"[13] अपने मालिक-मालकिनों की जिंदगी पर शानो की बड़ी पैनी नजर है। वह उनके दोगले चरित्र, उनके झूठे अहंकार और खोखलेपन को तो जानती ही है, उनकी नज़र को भी पहचानती है। उपलब्धियों के शिखर पर बैठे अपने मालिक-मालकिनों के भीतर के खालीपन को भी महसूस करती है। वह उनकी जिंदगी के खोखलेपन और खालीपन को भी महसूस करती है। वह उनकी जिंदगी के खोखलेपन और खालीपन में इस तरह डूबने लगती है कि खुद को खो बैठती है। लेकिन वह इस बात के प्रति सचेत भी है इसलिए वह अपनी और दूसरों की जिंदगी को निरंतर टटोलती रहती है-"आज अपने बारे में लिखना चाहती हूँ। सिर्फ अपने बारे में लेकिन कुछ सूझ नहीं रहा। जैसे ही अपने बारे में कुछ सूझता है कोई और उस ख्याल के साथ लिपटा हुआ नज़र आता है। मैं आज किसी और के बारे में कुछ भी नहीं लिखना चाहती।...शायद मैं दूसरे लोगों के बारे में सोचते सोचते और लिखते-लिखते अपने आपको भूल गई हूँ।"[14]

दरअसल शानो अपने मालिक-मालकिनों की जिंदगी को इस तरह अपना लेती है कि उनकी ज़िंदगी में जो भी घटित होता है, उसे लगता है कि यह सब उसकी ज़िंदगी में घटित हो रहा है। उसके बंगाली हिन्दू मालकिन की लड़की किसी मुसलमां के प्रेम में घर छोड़कर चली जाती है, जातिगत और धार्मिक भेद के कारण उसके घरवाले उसके प्रेम को नहीं स्वीकारते तो वह आत्महत्या कर लेती है, अगले दिन उसका प्रेमी भी आत्महत्या कर लेता है। शानों को लगता है कि यह सब झरना के साथ-साथ उसके साथ भी घटित हो रहा है, उसके साथ भी घट सकता है। अखबार वाले साहब और मिसेज वर्मा की जिंदगी को तो ऐसी अपनाती है कि वह उनकी बेटी हो, उनकी जिंदगी का अभिन्न हिस्सा हो। वह अपने मालिक मालकिनों की जिंदगी को मानसिक धरातल पर तो अपना लेती है। लेकिन उसकी जीवन स्थितियाँ इसे अपनाने की इजाजत नहीं देतीं। इसी द्वंद्व के कारण अंत में उसका स्वाभिमान आहत होता है। लेकिन वह अपने स्वाभिमान और स्वयं के प्रति इतनी सचेत है कि वह स्वयं को खोने नहीं देना चाहती। अत: वह दूसरों की जिंदगी के साथ-साथ अपने आपकी भी टटोलती रहती है-"कई दिन हो गये अपने मन को नहीं टटोला। मन को टटोला कैसे जाता है? अपने मन को। मन रहता कहाँ है? शायद उन ख्यालों में जो अपने आप आते रहते हैं।... वह अक्सर मन को मारने का उपदेश देता रहता है। लेकिन मुझे लगता है जैसे वह तन को मारने का उपदेश भी दे रहा हो। शायद तन को मारने से ही मन को मारा जा सकता हो। शायद तन को मारने के लिए मन को मारना जरूरी हो। फिर तो तन और मन का रिश्ता बहुत गहरा होगा। शायद अटूट।... शायद मन को टटोलने के बहाने मैं अपने तन को टटोल रही हूँ।"[15]

अपनी डायरी में अपने आप को टटोलने के क्रम में शानो इतनी दार्शनिक हो जाती है कि वह अपने ज्ञान और अनुभवों की सीमाओं के परे जाकर कुछ निष्कर्ष निकालती है। वह इन निष्कर्षों को सार्वभौमिक सत्य की तरह पेश करती है। "औरत का मन क्या

आदमी के मन जैसा ही होता है? अगर तन में फर्क है तो मन में भी कुछ फर्क तो होगा ही। फर्क हैं इसीलिए तो दोनों में झगड़े होते रहते हैं। इन झगड़ों को देख-देख ही तो मैंने यह ठाना है कि मैं शादी नहीं करूँगी बच्चे नहीं जनूंगी।"[16] स्त्री-पुरुष के झगड़ों को शानो ने निश्चित रूप से बहुत नजदीक से देखा है, उसने अपने माँ-बाप के झगड़े देखे हैं। उनके झगड़ों के कुछ ठोस (सामाजिक-आर्थिक) कारणों को समझा भी होगा लेकिन उसके पास इन कारणों के मनौवैज्ञानिक अध्ययन का अवसर नहीं रहा। उसने कोई मनोविज्ञान नहीं पढ़ा, उसने अभी तक विवाह भी नहीं किया। उसका कोई प्रेमी अथवा पुरुष मित्र भी नहीं है। उसकी अपनी जिंदगी में अपनी माँ, बहन और मालिक मालकिनों के अलावा कुछ नौकरानी सहेलियां ही हैं, बावजूद इसके वह इस सार्वभौमिक सत्य को खोज निकालती है कि स्त्री-पुरुष के झगड़े का मुख्य कारण उनकी दैहिक संरचना का भिन्न होना है। दैहिक अंतर के कारण ही दोनों के मनों में फर्क रहता है। कहाँ से पाया उसने यह सार्वभौमिक सत्य? शायद अपने सपनों से! "

अपनी और दूसरों की जिंदगी को टटोलना हो अथवा अपने लेखन और दूसरे के लेखन की रचना प्रक्रिया पर लिखना, शानो के लिए सब कुछ दिलचस्प खेल है। उसे इस खेल में उतना ही आनंद आता है, जितना कि अपने कुछ सपनों में, "किसी किसी सपने में मुझे बहुत मजा आता है, इतना कि उठकर पेशाब करना पड़ता है। उसके बाद नींद देर से आती है अंधेरे में लेटे-लेटे शर्म आती रहती है। कभी-कभी माँ पास सोई हुई हो तो वह झंझोड़ कर जगा देती है, कहती है यह क्या हो रहा है तुझे सोए-सोए। माँ को पता तो होगा मुझे क्या हो रहा है, फिर पूछती क्यों है?"[17] निश्चित रूप से माँ को सब पता है कि उसकी बेटी के साथ क्या हो रहा है? बेटी को इससे भी गहरा बोध है। शायद वह यह समझती है कि उसकी स्वप्निल दुनिया के आनंद का उसकी वास्तविक जिंदगी से कोई मेल नहीं है। वह यह सोचकर परेशान भी होती है कि उसका आनंद केवल उसके सपनों और डायरी तक सीमित हैं। इसलिए वह डायरी में फर्जी किस्से गढ़ने का आनंद लेते-लेते परेशान हो उठती है- "इस तरह के किस्से मुझे नहीं गढ़ने चाहिए। यह खेल खतरनाक है। इससे मुझे नुकसान होगा। इससे मेरा मन मैला होता चला जाएगा। मेरे मन में तरह-तरह के उल्टे ख्याल उठने शुरू हो जाएँगे। गाँठें बंधनी शुरू हो जाएँगी। लेकिन साथ ही साथ यह भी लग रहा है कि इन किस्सों की मदद से या इनके बहाने या इनके कारण जो मैं सोच रही हूँ वह गलत नहीं है। और यह भी मुझे किस्से गढ़ने में वैसा ही मजा आ रहा है जैसा रोटी बोलने में या सब्जी काटने और बनाने में आता है।"[18]

**शानो को स्वप्निल दुनिया की रचना करने और डायरी लेखन में आनंदानुभूति होती है, इसलिए वह अपनी डायरी में फर्जी किस्से गढ़कर इसी अनुभूति का विस्तार करती है ( ऐसे भी अपनी काल्पनिक दुनिया के अलावा वास्तविक जिंदगी में उसके पास आनंदानुभूति के अवसर हैं ही कहाँ, यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या केवल शानों ही फर्जी किस्से गढ़ती है अथवा उसके रचयिता 'कृष्ण बलदेव वैद' ने भी इस उपन्यास की रचना में कोई फर्जीवाड़ा किया है?**

निश्चित रूप से कृष्ण बलदेव वैद ने हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय नौकरानी के चरित्र की रचना की है। इस नौकरानी के स्वाभिमान, उसकी ठसक और उसकी स्वप्निल दुनिया पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? बल्कि शानो जैसे चरित्र की रचना के लिए लेखक को साधुवाद दिया जाना चाहिए। लेकिन यह भी ध्यान रखना पड़ेगा कि लेखक इस चरित्र को गढ़ते हुए अपने पूर्वाग्रहों से पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ है और इस चरित्र को एकांगी और अविश्वसनीय बना दिया है।

यह भी बड़ी अजीब बात है कि लेखक एक तरफ तो शानो के फर्जी किस्सों को उसकी स्वप्निल दुनिया के आनंद और यौनसुख से जोड़ता है, वहीं दूसरी तरफ इस आनंद की तुलना रोटी बेलने या सब्जी काटने और सब्जी पकाने से करता है। हो सकता है कि लेखक सहित कुछ अन्य लोगों को इस काम में यौनानंद की अनुभूति होती हो। अपने लिए अथवा अपनों के लिए खाना बनाने में तो शायद कुछ अच्छा महसूस होता भी है लेकिन दूसरों के घरों में नौकरानी की हैसियत से खाना बनाने में शानो को कितना आनंद आएगा, जबकि दूसरों के लिए काम करते हुए नौकरानी होने का बोध भी उसे परेशां करता है। शानो द्वारा फर्जी किस्से गढ़ने और रोटी बेलने सब्जी पकाने की तुलना को तूल देने की जरूरत नहीं थी। कभी-कभी लेखक अप्रासंगिक तुलना भी कर देते हैं। लेकिन यह तुलना इसलिए भी अखरती है कि लेखक ने शानो के चरित्र को एकांगी और अविश्वसनीय बना दिया है। इस चरित्र को गढ़ते हुए लेखक फ्रायडीय चिंतन से आक्रांत है। (हालांकि हिंदी साहित्य में कुछ ऐसे कलाकार भी हुए हैं, जिन्होंने फ्रायडीय चिंतन और मार्क्सवादी चिंतन को एक साथ निभा दिया है।) यही कारण है कि शानो जब अपनी डायरी में दूसरों की जिंदगी अथवा अपने आपको टटोलती है तो उसकी यौन चेतना इतनी प्रबल रहती है कि वह अपना मन टटोलते टटोलते तन टटोलने लगती है। कभी-कभी अपनी तरफ आती बुरी नजरें भी अच्छी लगने लगती हैं "वैसे कभी-कभी किसी-किसी आदमी की बुरी आँख अच्छी लग जाती है। किसी राह जाते आदमी की भी। किसी बदमाश आदमी की भी किसी छोटे लड़के की भी। मतलब अपने से छोटे लड़के की। मुझसे छोटे लड़के मुझे अक्सर बुरी आँख से देखते है।"[19], इतना ही नहीं बल्कि जिस अखबार वाले साहब से पिता का स्नेह मिला

है, उसके विषय में भी ऐसे ही कल्पनाएँ कर लेती हैं। इसके अलावा सपनों में मिलने वाला यौन सुख तो है ही, वह तो अपनी अपनी उम्र में सबको मिल जाता है।

अपनी तरफ आती बुरी नजरों में अथवा सपनों में शानो यदि यौन सुख प्राप्त कर लेती है तो कोई अपराध नहीं करती। इसकी अभिव्यक्ति के लिए इसका लेखक भी अपराधी नहीं है। लेकिन जब **'एक नौकरानी की डायरी' के दो सौ तीस पेज में कहीं भी उसके अपने समाज का चित्रण न हो, उसकी समस्याओं का चित्रण न हो, यह समाज केवल सूचनात्मक रूप से आता हो तो अखरता है। यह नौकरानी अपने मालिक मालकिनों के विषय में लेखक की इच्छा से आगे कुछ सोचने लगती है, तो अपराध बोध भी होने लगता है। उसे लगने लगता है-"इससे मेरा मन मैला होता चला जाएगा। मेरे मन में तरह तरह के उल्टे ख्याल उठने शुरू हो जाएंगे। गांठें बँधनी शुरू हो जाँएगी।"**[20] **अर्थात् शानो को अपने उदार मालिक-मालकिनों के विषय में नकारात्मक नहीं सोचना चाहिए।** ऐसा सोचने से उसका अपना मन ही मैला होगा, मालिक तो पवित्र आत्मा हैं। इससे उसी के मन में गांठें पड़ जाएंगी, उसके मालिक तो बेहद उदार हैं।

**शानो के इस अपराध बोध के माध्यम से लेखक यह संकेत भी करता है कि दलित साहित्य में मैल ही मैल है, यह मैल दलितों के मन का मैल है। दलित साहित्य दलितों के मन में गांठें डालता है जबकि समाज में न तो कोई मैल है न किसी भेदभाव की गाँठ। अतः शानों की तरह दलित लेखकों को भी सवर्ण समाज के विषय में कुछ ऐसा-वैसा लिखते हुए अपराधबोध होना चाहिए। लेखक 'एक नौकरानी की डायरी' में नौकर और मालिक के बीच के वर्ग-भेद को नहीं उभरने देता।** एक तरफ तो नौकरानी के समाज का चित्रण नहीं हुआ, केवल सूचनात्मक रूप से यह समाज डायरी में आ पाता है, जैसे कि किसी अखबारी कतरन में आता है। दूसरी तरफ मालिक-मालकिनों के समाज का चित्रण करते हुए केवल उदार मालिक-मालकिन का चरित्रांकन हो पाया है (इसमें भी नकरात्मक पहलू आने पर अपराधबोध भी होने लगता है) इस वर्ग में कुछ दुष्ट मालिक मालकिन भी होते हैं इसका संकेत कर दिया गया है। यह संकेत दुष्ट पात्रों का चरित्र उभारकर करने के बजाय, कुछ वक्तव्यों के माध्यम से निबंध शैली में किया गया है जैसे-"सभी नौकरानियां जितनी शिकायतें मालकिनों की करती हैं उतनी मालिकों की नहीं, उनका सीधा वास्ता अक्सर मालकिनों से ही पड़ता है। मालिक अक्सर ओट में रहते हैं। वहीं खड़े-खड़े बेहयाइयाँ करते रहते हैं। नौकरानियों को मालकिनों की चिख-चिख मालिकों की बेहयाई से भी ज्यादा बुरी लगती है। सभी मालकिनें नौकरानियों को चोट्टी समझती हैं। चोट्टी और चन्ट। उन्हें शक रहता है कि नौकरानियां उनकी आँख में धूल झोंक कर उनका सब कुछ लूट ले जाएगी, उनका घर भी घरवाला भी।"[21]

लेखक अपने वक्तव्यों में तमाम सामाजिक भेदों को स्वीकारता है लेकिन उपन्यास की अंतर्वस्तु में इन्हें आने नहीं देता। औपन्यासिक देशकाल और वातावरण में यदि कोई सामाजिक भेद आ भी जाता है, तो उसे उभरने नहीं देता। पात्रों के चरित्र् चित्रण अथवा कथावस्तु के केन्द्र में नहीं आने देता। क्योंकि इन पर बहस करना लेखक का उद्देश्य है ही नहीं। अतः इन तमाम सामाजिक भेदों को अपनी जादुई भाषा में छुपा देता है-"सब लोग अमीरों के घर थोड़े ही न पैदा हो सकते हैं। क्यों नहीं? क्योंकि सब लोग अमीर नहीं हो सकते। लेकिन क्यों नहीं? क्योंकि माँ कहती है सबका अपना अपना नसीब, अपना-अपना परारबध, सब अपने आने कर्मों का फल भोगते हैं। सब पहले से ही लिखा होता है कि कौन किसके घर जनम लेगा, कौन क्या बनेगा। लेकिन यह ठीक है तो लोग मेहनत क्यों करते हैं, दौड़ते भागते क्यों है कुछ लोग अमीर से गरीब और गरीब से अमीर क्यों हो जाते हैं? माँ कहती है यह भी कर्मों का फल है।"[22] अर्थात् शोनों नौकरानी ही हो सकती थी कुछ और नहीं। मालिक मालिक ही होते, जिनके यहाँ शानो को नौकरानी का काम करना ही पड़ता। इसमें कोई कुछ नहीं कर सकता। लेखक ने तो फिर भी इतना कर दिया है कि उस नौकरानी को अपनी भाषा, दृष्टि, ज्ञान और लेखन कला सब कुछ दिया है। अतः उसे वही लिखना होगा, जो उसका लेखक लिखवाना चाहता है। यदि लेखक कर्मफल का महिमामंडन करना चाहता है तो शानो को यह भी करना होगा।

आप कह सकते हैं कि कर्मफल से जुड़ा उपरोक्त वक्तव्य लेखक का नहीं है। यह तो शानो की माँ कहती है कि सब कुछ पिछले जन्मों के कर्मों का परिणाम है। और फिर इसी उपन्यास की अन्य नौकरानी पात्र कर्मफल के सिद्धान्त का खण्डन भी तो करती है। उपन्यास कहानियों के साथ यही दिक्कत है कि यदि इनके किसी पात्र की किसी बात की वाह-वाह होने लगे तो उसे लेखक द्वारा कही गई बात मान लेते हैं और बार-बार दोहराते हैं कि प्रेमचन्द ने ऐसा कहा अथवा निराला ने वैसा कहा। यदि कोई पात्र निंदनीय टिप्पणी करता है तो उससे लेखक को साफ बचा ले जाते हैं कि यह तो आमुक पात्र ने कहा है, लेखक ने नहीं। लेखक का मंतव्य समझने के लिए जरूरी है कि यह देखा जाए कि उसकी रचना किस तरह का प्रभाव पैदा करती है?

'आलो-आँधारि' और 'एक नौकरानी की डायरी' की तुलना करके पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि दोनों रचनाओं में विषय वस्तु, परिवेश और पात्रों में कई समानताएं होने के बावजूद दोनों के प्रभाव में भिन्नता है क्योंकि ये समानताएं सतही स्तर पर रह जाती हैं। यही कारण है कि एक नौकरानी (बेबी हालदार) की आत्मकथा जीवन संघर्षों में प्रेरणा स्रोत का काम करती है, जबकि दूसरी नौकरानी (शानो) की डायरी एक छद्म नौकरानी का चरित्र गढ़ती है और पलायनवादी प्रवृत्ति की द्योतक बन जाती है।

'आलो-आँधारि' की बेबी हालदार को जीवन संघर्षों में जूझने की जीवटता अपनी माँ से विरासत में मिली है। वह भी अपने पति (बेबी के पिता) के गैरजिम्मेदाराना रवैया और अत्याचारों से त्रस्त होकर घर छोड़कर चली जाती है। हालांकि उसका घर छोड़ना सफलता की कहानी नहीं बन पाता, जैसा कि बेबी हालदार घर छोड़ने के बाद सफलता के प्रतिमान स्थापित करती है, दूसरी तरफ 'एक नौकरानी की डायरी' की शानो की माँ है जो सारी जिंदगी पति से त्रस्त रहकर भी इसे अपनी नियति मान लेती है। और जब उसकी बेटी पारो (शानो की बड़ी बहन) अपने पति को छोड़ने का निर्णय लेती है, तो उसकी माँ उसका विरोध करती है। **शानो के चरित्र में एक ठसक तो है, लेकिन यह ठसक भी हवा हवाई है, जो उसे आत्मकेन्द्रित ही बनाती है। शानो के स्वाभिमान की अपेक्षा बेबी हालदार का लात जूते खाकर भी सब कुछ देख लेने के तेवर के साथ जीवन संग्राम में टिके रहना अधिक प्रभावित करता है। यह डायरी लिखे न लिखे।**

**पुनश्चः**

शानो के माध्यम से लेखक द्वारा रची गई फैंटेसी की आप प्रशंसा कर सकते हैं कि शानो कितना पारदर्शी चरित्र है। उसमें सब कुछ लिख देने का साहस है वह अपनी यौन भावनाओं को भी छिपाती नहीं, खुलकर अभिव्यक्त करती है। वह बिंदास ढंग से अपने सपनों, फैंटेसी और मनोभावों को दर्ज करती है। वह बिंदास बोलती है कि उसे अपनी तरफ आती कुछ बुरी नजरें भी रोमांचित करती है। वह खुलकर लिखती है–"मुझे तो सभी मरद ढीले नजर आते हैं। जो ढीले नहीं होते बेहया नजर आते हैं। जो बेहया नहीं होते वह बूढ़े नजर आते हैं। मुझे तो खैर कोई जँचता ही नहीं।"[23] दूसरी तरफ बेबी हालदार है, जो तीन बच्चे जनने के बाद भी अपनी यौन चेतना को दबाये रहती है। वह अपने पति से मिलने वाले यौन सुख के विषय में भी नहीं लिख पाती जबकि अविवाहित शानो दुनिया के तमाम मर्दों के विषय में लिख देती है। उसकी तो भाषा में भी यौन चेतना है। "जब माँ मेरी उमर की रही होगी तो उसकी जवानी ठाठें मारती होगी। यह मुहावरा तो मेरे पीछे पड़ गया है। जैसे मुहावरा न हो कोई बदमाश लड़का हो। सच कहूँ तो कभी-कभी मन करता है कोई बदमाश लेकिन बांका लड़का मेरे पीछे पड़ जाए। मैं उससे कहूँ तुम मेरे पीछे पड़ गए हो? वह कहे तुम चीज ही ऐसी हो।"[24] जब तक कोई बदमाश और बांका लड़का उसके पीछे नहीं पड़ता तब मुहावरे उसके पीछे पड़े हैं। लेकिन वह चाहती है कि कोई लड़का उसके पीछे भी पड़े। क्या एक नौकरानी की इच्छा बस इतनी सी है? क्या इतनी सी इच्छा को अभिव्यक्त करने के लिए लेखक ने दो सौ तीस पृष्ठ का उपन्यास रच डाला है? यही तो लेखक की संवेदनशीलता है, यही तो परकाया प्रवेश का सिद्धांत है कि वह एक नौकरानी की काया में प्रवेश करके उसकी यौनाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास रच देता है, इस उपन्यास में बाई-प्रॉडक्ट के रूप में नौकरानी के सामाजिक परिवेश संबंधी कुछ सूचनाएँ भी मिल जाती हैं। दूसरी तरफ बेबी हालदार स्वानुभूतिजन्य साहित्य रचकर भी अपनी यौनाकांक्षाओं को अभिव्यक्त नहीं कर पाती। वह तो 'एक नौकरानी की डायरी' के बाई-प्रॉडक्ट यानी अपने सामाजिक परिवेश में ही उलझकर रह जाती है। इसलिए डायरी भी नहीं लिख पाती।

**संदर्भ**


1. कृष्ण बलदेव वैद, एक नौकरानी की डायरी, पृ. 223
2. बेबी हालदार, आलो-आँधारि, पृ. 50-51
3. वही, पृ. 98
4. वही, पृ. 99
5. वही, पृ. 105
6. वही, पृ. 104
7. कृष्ण बलदेव वैद, एक नौकरानी की डायरी, पृ. 17
8. बेबी हालदार, आलो-आँधारि की प्रकाशकीय टिप्पणी
9. कृष्ण बलदेव वैद, एक नौकरानी की डायरी, पृ. 23
10. वही, पृ. 147
11. वही, पृ. 23
12. वही, पृ. 156
13. कृष्ण बलदेव वैद, एक नौकरानी की डायरी, पृ. 13
14. वही, पृ. 138
15. वही, पृ. 143
16. वही, पृ. 144
17. वही, पृ. 51
18. वही, पृ. 200
19. वही, पृ. 182
20. वही, पृ. 200
21. वही, पृ. 66
22. वही, पृ. 39
23. वही, पृ. 172
24. वही, पृ. 210

# संस्कृतिमूलक अध्ययनः अर्थ, संदर्भ एवं विकास

**डॉ. मुन्ना कुमार पांडेय**
असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती कॉलेज

संस्कृति के अर्थों का बहुआयामी स्वरूप, परिधि या सीमा को नकारते उसके अवयवों का विस्तार और मानवीय एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उसके विराट परिदृश्य ने सांस्कृतिक अध्ययन के अर्थों और संदर्भों की व्याख्या को भी दुष्कर बना दिया है। पिछले दशकों में अध्ययन के इस क्षेत्र के संदर्भ में विद्वानों ने गंभीरतापूर्वक इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है किन्तु संस्कृति की ही तरह इसका अध्ययन भी जाति, राष्ट्र, समाज, लैंगिक समानता और ऐसे ही न जाने कितने मुद्दों को अपने भीतर समायोजित किए हुए है और समायोजित करते जा रहा है। यही कारण है कि सांस्कृतिक अध्ययन के प्रमुख नाम भी किसी एक विचारधारा या किसी एक विषय से संबद्ध नहीं हैं। मार्क्ससवादियों से लेकर उत्तर उपनिवेशवादियों तक, समाजशास्त्रियों से लेकर नारीवादियों तक, अन्य अकादमिक क्षेत्र अध्ययन में संलग्न अध्येताओं से लेकर नृतत्वशास्त्रियों तक, मनोवैज्ञानिकों से लेकर दर्शनशास्त्रियों तक, साहित्यिक आलोचकों से लेकर भाषाशास्त्रियों तक, सभी अनुशासनों से जुड़े लोग सांस्कृतिक अध्ययन में संलग्न पाए जाते हैं। इस तरह सांस्कृतिक अध्ययन ने अनुशासन की सीमाओं को तोड़ते हुए कला और समाजविज्ञान ही नहीं बल्कि विज्ञान में भी अपनी उपस्थिति दर्ज की है।

कहना न होगा कि इस स्थिति का सबसे प्रमुख कारण संस्कृति पद का और उसके क्षेत्र का अद्‌भुत विस्तार ही है। इसका यह परिणाम हुआ कि बँधे हुए अनुशासनों की तरह सांस्कृतिक अध्ययन के पास सीमाबद्ध सैद्धांतिकी या अध्ययन की तयशुदा पद्धतियाँ नहीं हैं। इस संदर्भ में पॉल विलिस ने लिखा है कि "सांस्कृतिक अध्ययन 'गैर-अनुशासनात्मक' अनुशासन की स्थापना के क्रम में संभवतः पहला अकादमिक प्रयोग है।[1] संस्कृति से संबंधित किसी भी अध्ययन में एक अवधारणा से जो व्याख्याएँ संभव हैं, अन्य अवधारणाओं से उससे कई इतर व्याख्याएँ भी संभव हैं। पॉल विलिस लिखते हैं कि "ऐसे में हमें पद्धतियों के चुनाव और सिद्धांतों के आदान-प्रदान में एक खुलेपन की आवश्यकता होती है।[2] बहुअनुशासनीय होने पर भी पद्धतियाँ एकरेखीय हो सकती हैं। सांस्कृतिक अध्ययन में इस एकरेखीयता को तोड़ने का प्रयास होता है। इसलिए सांस्कृतिक अध्ययन को अनुशासन न मानकर अध्ययन का ऐसा क्षेत्र मानना चाहिए जहाँ बौद्धिक प्रक्रिया आवश्यकतानुसार अपनी सामग्री विभिन्न अनुशासनों से ग्रहण कर लेती है। संस्कृति की व्याख्या जैसे किसी एक अनुशासन की पद्धति से संभव नहीं वैसे ही सांस्कृतिक अध्ययन की कार्यविधि भी निर्धारित नहीं की जा सकती। निर्धारित बस इतनी सी बात की जा सकती है कि इसके तहत संस्कृति की समझ ही अभिप्रेत है। क्रिस बार्कर इसकी इसी प्रवृत्ति के कारण इसमें बिखरी हुई एकात्मकता देखते हैं। बार्कर का मानना है कि "सांस्कृतिक अध्ययन एक बिखरावयुक्त संरचना है। यह विचारों, छवियों, गतिविधियों का एक समुच्चय है, जिसके माध्यम से हम ज्ञान और इससे जुड़े हुए व्यवहार, एक खास विषय, सामाजिक गतिविधि या समाज में अवस्थित संस्थानों के बारे में बात करते हैं (हाल, 1997 ए:6)। सांस्कृतिक अध्ययन वस्तुओं (जिसको यह स्वयं केन्द्र में लाता है) के बारे में अभिव्यक्ति के नियंत्रित लहजे से गठित होता है और केन्द्रीय अवधारणों, विचारों और चिन्ताओं में एकसूत्रता स्थापित करता है।"[3] सांस्कृतिक अध्ययन ने ऐतिहासिक विकासक्रम की एक खास अवस्था में अपने लिए एक नाम अर्जित कर लिया है किन्तु यह नामकरण एक निरन्तर विकासशील बौद्धिक परियोजना का एक क्षणिक बिम्ब मात्र है।[4]

इस स्थिति का कुछ लोग यह तात्पर्य लगा लेते हैं कि संस्कृति के संबंध में कुछ भी और कैसे भी लिख देना सांस्कृतिक अध्ययन का कार्य मान लिया जाएगा। यह ठीक नहीं है। अपनी सारी स्पष्टताओं और अनिश्चितताओं के बाद भी सांस्कृतिक अध्ययन की कुछ प्रवृत्तियाँ विशेषताएँ हैं जिन्हें दरकिनार कर इसे नहीं समझा जा सकता। बीसवीं सदी के ऐतिहासिक विकास-क्रम ने सांस्कृतिक अध्ययन की दिशा को काफी हद तक प्रभावित भी किया है और तय भी।

सत्ता के समीकरण की जैसी रूपरेखा पिछली सदी में खुलकर सामने आई है, उसकी व्याख्या के लिए ज्ञान के क्षेत्र भी उभर कर आए हैं। सांस्कृतिक अध्ययन को भी इसी क्रम में चिह्नित करना चाहिए। इसलिए सबसे पहले सांस्कृतिक अध्ययन सत्ता स्थापना के क्रम में सांस्कृतिक प्रक्रिया के प्रयोग को समझने का एक माध्यम है। किस तरह सत्ताधारी शक्तियाँ छवियों और प्रतिनिधिकरणों का निर्माण करती हैं और सांस्कृतिक प्रक्रिया को अपने हिसाब से ढालती हैं—इसका अध्ययन बहुतायत में किया जा रहा है। चूँकि यह प्रतिनिधिकरण आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य को प्रभावित किए बगैर संभव नहीं है, इसलिए सांस्कृतिक अध्ययन भी इन संदर्भों के अध्ययन के बगैर संभव नहीं। हाँ। यह जरूर है कि सांस्कृतिक अध्ययन में हम राजनीति विज्ञान या समाजशास्त्र के अनुशासन में पूर्णतः ढलकर ऐसा नहीं करते, अपना छोर खुला रखते हैं।

सत्ता और ज्ञान के संबंधों और विरोधों को समझना इसकी एक और महत्वपूर्ण विशेषता है। संस्कृतियाँ तब तक सही से नहीं

समझी जा सकतीं जब तक सत्ता के आईने में उसे पिरोकर देखा नहीं जाता। संस्कृति के बारे में लिखते हुए ग्रामशी ने सांस्कृतिक नेतृत्व की पहचान हेजेमनी के रूप में की है। इस हेजेमनी स्थापना के क्रम में ज्ञान के संस्थानों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। नागरिक समाज में संस्कृति की क्रियाशीलता को ज्ञान को नियंत्रित करने वाली नीतियाँ, सत्ता नियंत्रित ज्ञान से संचालित छवियाँ, संस्थान, शब्दावलियाँ इत्यादि बड़े पैमाने पर प्रभावित करती हैं। किन्तु इन सबके साथ लोक में ज्ञान का एक दूसरा समानान्तर स्वरूप भी विकसित होता रहता है। सांस्कृतिक अध्ययन में हम एक ओर ज्ञान में पैदा हुए इस विभेद को उद्घाटित करते हैं और फिर इस विभेद के वास्तविक कारकों को समझ कर उसे दूर करने का प्रयास करते हैं। स्थानीय संस्कृतियाँ और वैश्विक परिदृश्य में सक्रिय सांस्कृतिक उपादान दोनों ही इसके कार्य क्षेत्र में है। इस तरह सांस्कृतिक अध्ययन का एक लक्ष्य ज्ञान के विभिन्न रूपों को सत्ता के दुरूपयोग से मुक्त कर संस्कृतियों को उसके वास्तविक स्वरूप में स्थापित करना है।

सांस्कृतिक अध्ययन की पैदाइश और विकास में नैतिक मूल्यों का सक्रिय योगदान है। जियाउद्दीन सरदार ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि "सांस्कृतिक अध्ययन आधुनिक समाज के नैतिक विकास के प्रति एवं परिवर्तनकारी राजनीतिक प्रक्रिया के प्रति कटिबद्ध है। सांस्कृतिक अध्ययन की परंपरा मूल्यबोध मुक्त अध्येतावृत्ति की नहीं है। यह आलोचनात्मक राजनीतिक कार्यवाही से उद्भूत सामाजिक पुनिर्निमाण के लिए प्रतिबद्ध है। इस तरह सांस्कृतिक अध्ययन का मूलभूत लक्ष्य प्रत्येक क्षेत्र में और विशेष रूप से औद्योगिक पूँजीवादी समाजों में प्रभुत्ववादी संरचनाओं को समझना है और उन्हें परिवर्तित करना है।"[5]

सांस्कृतिक अध्ययन के जन्म का संबंध 1964 में स्थापित बर्मिंघम विश्वविद्यालय के 'समसामयिक सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र' (सेंटर फॉर कंटेम्परारी कल्चरल स्टडीज) से है। रिचर्ड होगार्ट, रेमंड विलियम्स, ई.पी. थॉम्पसन और स्टुअर्ट हाल जो कभी न कभी इस केंद्र से संयुक्त रहे, इस अध्ययन क्षेत्र के प्रारंभकर्ता माने जाते हैं। 1972 में इस केंद्र ने सांस्कृतिक अध्ययन को स्थापित करने के लिए 'वर्किंग पेपर्स ऑन कल्चरल स्टडीज' नामक पत्रिका का पहला अंक प्रकाशित किया। इसी पत्र में रखी गई मान्यताएँ ही एक तरह से सांस्कृतिक अध्ययन की सैद्धांतिकी की पहली दस्तावेज मानी जाती हैं।[6] इस केन्द्र की स्थापना के साथ ही सांस्कृतिक अध्ययन ने बहुत तेजी से विकास किया और युनाइटेड किंगडम के बाहर यूरोप, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, लैटिन अमरीका, अफ्रीका और एशिया में भी यह विभिन्न रूपों में विकसित होता गया। प्रत्येक क्षेत्र में इसके विकास की अपनी विशिष्टताएँ रही हैं। दुनिया के विभिन्न संस्थानों में इसके पश्चात इससे जुड़े विभागों और केन्द्रों की स्थापना हुई, अध्ययन-अध्यापन के लिए पाठ्यक्रमों और पाठ्यपुस्तकों का निर्माण और विद्यार्थियों को इसकी जानकारी देने की प्रक्रिया का आरंभ हुआ। सांस्कृतिक अध्ययन के क्षेत्र में इस प्रगति ने इसकी रूपरेखा को परिभाषित और व्याख्यायित करने में थोड़ी मदद पहुँचाई। इस 'गैर अनुशासनात्मक' अनुशासन को बाँधने के और भी प्रयास होने लगे।

ऐसे ही प्रयासों में बेनेट (1998) द्वारा सांस्कृतिक अध्ययन में परिभाषा का गुण भरने का प्रयास भी है–[7]

1. सांस्कृतिक अध्ययन एक अंतर्अनुशासनात्मक क्षेत्र है, जिसमें विभिन्न अनुशासनों से चुने हुए दृष्टिकोणों के माध्यम से संस्कृति और सत्ता के संबंधों का परीक्षण किया जाता है।[8]
2. सांस्कृतिक अध्ययन का संबंध उन सभी गतिविधियों, संस्थाओं और वर्गीकरण की प्रक्रियाओं से है जिनके माध्यम से जनता में मूल्य, विश्वास, क्षमता, दैनन्दिन जीवन की गतिविधि और व्यवहार के चिन्हित रूपों का निरूपण होता है।[9]
3. सांस्कृतिक अध्ययन सत्ता के जिन रूपों का निरीक्षण करता है उनमें वैविध्य है। इसमें जाति, लिंग, वर्ग, उपनिवेशवाद इत्यादि सम्मिलित हैं। सांस्कृतिक अध्ययन का अभिप्रेत सत्ता की इन संरचनाओं के अंतर्संबंधों की छान-बीन है। इस छान-बीन के माध्यम से वह सत्ता और संस्कृति के बारे में ऐसी चिन्ताधारा का विकास करना चाहता है जिन्हें परिवर्तन के लिए प्रयोग में लाया जा सके।[10]
4. सांस्कृतिक अध्ययन के प्रमुख सांस्थानिक केन्द्र मूलतः उच्च अध्ययन के केन्द्र ही हैं और इस तरह से सांस्कृतिक अध्ययन को अन्य अकादमिक अनुशासनों के रूप में देखा जा सकता है। हालांकि यह निरंतर सांस्कृतिक संस्थानों, राजनीतिक आंदोलनों, श्रमिकों, सांस्कृतिक प्रबंधनों के साथ अकादमिक क्षेत्र का संबंध स्थापित करने के लिए प्रयासरत रहता है।[11]

एक नजर सांस्कृतिक अध्ययन के ऐतिहासिक विकास-क्रम पर डालना आवश्यक है। 1964 में बर्मिंघम में सेंटर ऑफ कन्टेम्परारी कल्चरल स्टडीज की स्थापना से काफी पहले ही इंग्लैंड की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों ने सांस्कृतिक अध्ययन के जन्म के अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित कर दी थीं। द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम ने इंग्लैंड के सत्तासीनों को, बौद्धिकों को और जनता को भी अपने समाज के संदर्भ में पुनर्विचार करने की ओर अग्रसरित किया था। इंग्लैंड का समाज ऐसा वर्ग विभाजित समाज था, जहाँ अभिजात्य और श्रमिक का भेद बहुत ही साफ दृष्टिगोचर था। सामाजिक परिवर्तन के क्रम में वर्ग विभाजन बौद्धिकों के चिन्तन का एक महत्वपूर्ण पहलू बना। यही कारण है कि सांस्कृतिक अध्ययन के कई पुरोधा मूलतः श्रमिक वर्ग की पृष्ठभूमि से आते थे। इन्होंने इंग्लैंड की संस्कृति को इस दृष्टि से समझने का प्रयास भी किया। रिचर्ड होगार्ट और रेमंड विलियम्स का लेखन मध्य-वर्गीय और उच्च वर्गीय अंग्रेजी

आभिजात्य के बरक्स नए औद्योगिक मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली लोकप्रिय संस्कृति के प्रति सहानुभूति रखता था। वेल्स की श्रमशील जनजीवन से रेमंड विलियम्स के लगाव के प्रभाव को प्रो. मैनेजर पांडेय ने रेखांकित करते हुए ठीक ही लिखा है कि "वेल्स के जनजीवन और उसकी सांस्कृतिक चेतना में गहरी पैठ से प्राप्त शक्ति के सहारे उन्होंने अंग्रेजी की प्रभुत्वशाली सांस्कृतिक विचारधारा से संघर्ष किया और संस्कृति संबंधी अपनी मान्यताओं के लिए जगह बनाई। कैम्ब्रिज के अभिजात समुदाय में शामिल होकर भी वे वेल्स के जनजीवन से अपने लगाव के कारण अभिजातवादी आग्रहों और प्रभावों से अछूत रहे। वेल्स के मजदूर और किसान जीवन से अपने जुड़ाव के बल पर उन्हें अंग्रेजी में सांस्कृतिक चिंतन की अभिजात धारा के सामने संस्कृति की साधारणता और जन संस्कृति के महत्व को स्थापित करने में सफलता मिली।"[12]

विलियम्स की तरह होगार्ट भी यह मानते थे कि प्रभुत्वशाली उच्च वर्ग अपनी सत्ता को स्वीकृति अपने सांस्कृतिक रूपों और प्रक्रियाओं को मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठत करके ही अर्जित करता है। इसीलिए सांस्कृतिक संघर्ष मूलत: प्रतिस्थापना और दबदबा कायम करने की प्रक्रिया ही है।[13] सांस्कृतिक अध्ययन के एक और महत्वपूर्ण चरित्र स्टुअर्ट हॉल थे। जमाइका जमैका के एक मधयवर्गीय परिवार में जन्मे स्टुअर्ट हॉल 1951 में ऑक्सफोर्ड एक स्कॉलरशिप के माध्यम से पहुँचे। पचास के दशक में वे निरन्तर नव-वामपंथ से संयुक्त रहे। साठ और सत्तर के दशक में वे बर्मिंघम के सांस्कृतिक अध्ययन से जुड़े रहे। हाल के लिए यह जरूरी था कि सांस्कृतिक अध्ययन करने वाले सिर्फ सैद्धांतिकी तक न सीमित रहें बल्कि अपनी सोच को ऐक्टिविज्म के माध्यम से उस वर्ग तक भी पहुँचाएँ जिन्हें बौद्धिक समुदाय नहीं माना जा सकता। स्टुअर्ट हाल ने हमेशा ही इस बात पर जोर दिया है कि सांस्कृतिक अध्ययन का वास्तविक यथार्थ पर गंभीर प्रभाव हो सकता है। बुद्धिजीवियों को वह यह कहकर निरंतर प्रश्नांकित किया करते थे कि वास्तविक संसार को वे किस तरह से प्रभावित कर रहे हैं।

ब्रिटेन में सांस्कृतिक अध्ययन के विकास के बाद, जैसा कि जिक्र किया गया, धीरे-धीरे यह अध्ययन क्षेत्र विश्व के विभिन्न भागों में वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार विकसित होता गया। परवर्ती दशकों में सांस्कृतिक अध्ययन ने अल्थूसर के संरचनावाद, ग्राम्शी के हेजेमनी सिद्धांत और ऑर्गेनिक बुद्धिजीवी के तर्क, पियरे बॉर्दियू के सांस्कृतिक पूँजी, फूको के सत्ता विमर्श, एडवर्ड सईद के प्राच्यवाद, होमी भाभा और गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक के हाशिये के विमर्श इत्यादि से बहुत अधिक अर्जित किया है।

भारत में सांस्कृतिक अध्ययन आकार ग्रहण करना शुरू करता है सत्तर के दशक में। दिल्ली में इसके एक प्रमुख केन्द्र के रूप में सेंटर फॉर स्टडी ऑफ डेवेलपिंग सोसाइटीज का नाम लिया जा सकता है। इसके तीन प्रमुख बौद्धिकों, रजनी कोठारी, आशीष नंदी एवं डी.एल. सेठ ने संस्कृति और समाज के संदर्भ में काफी चिंतन किया है। इसके अतिरिक्त तीन मूर्ति स्थित सेंटर फॉर कंटेम्परेरी स्टडीज और दिल्ली विश्वविद्यालय से संयुक्त सबआल्टर्न अध्ययन समूह का भी इस अध्ययन के भारत के प्रसार में काफी योगदान रहा है। पिछले दशक में भारत के कई विश्वविद्यालयों ने सांस्कृतिक अध्ययन को ध्यान में रखते हुए विभागों और केंद्रों की स्थापना की है। भारत में सांस्कृतिक अध्ययन ने पिछले वर्षों में लैंगिक समानता, डायस्पोरा, राष्ट्रवाद, जाति-प्रथा और नस्लभेद, समलैंगिकता इत्यादि पर काफी गहराई से विचार किया है। काल्पनिकता में अपनी पहुँच के बाद सांस्कृतिक आधिपत्य हमारे समय में किस तरह फिल्मों, टेलीविजन, सीडी रोम आदि के माध्यम से अपनी जगह बना रहा है-इसका भी बौद्धिक समुदाय गंभीर विवेचन कर रहा है। भूमंडलीकरण के प्रति भारतीय सांस्कृतिक अध्ययन में संलग्न अध्येताओं में मूलत: नकार का भाव है। मीडिया और जनसंचार के माध्यम से सांस्कृतिक समरूपीकरण को जन्म दे रही इस प्रक्रिया का सीएसडीएस के बुद्धिजीवियों और सबआल्टर्न स्कूल के लोगों ने तार्किक धरातल पर विरोध किया है। भूमंडलीकरण की जैसी आक्रामकता भारत के बहुभाषी एवं बहुरंगी परिदृश्य में दिखाई दे रही है, उसने इस अध्ययन-क्षेत्र की आवश्यकता को और भी बढ़ा दिया है।

**सन्दर्भ :**


1 बार्कर क्रिस, कल्चरल स्टडीज थियोरीएंड प्रैक्टिस, 2003, सेज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, प्राक्कथन से

2 वही

3 वही, पृ.6.

4 वही

5 सरदार जियाउद्दीन और लून बोरिन वैन, कल्चरल स्टडीज, आइकक्नन बुक्स, लंदन, 2010, पृ.9.

6 वही, पृ.24.

7 बार्कर क्रिस (2003) पृ.7.

9. Cultural studies is an interdisciplinary field in which perspectives from different disciplines can be selectively drawn on to emamine the relations of culture and power-

10. Cultural studies is concerned with all those practices] institutions and system of classification through which there are inculcated In a population particular values] beliefs] competencies] routines of life and habitual forms of conduct-

11. The forms of power that cultural studies eÛplores are diverse and include gender] race] class] colonialism etc-Cultural studies seeks to eÛplore the connections between these forms of power and to develop ways of thinking about culture and power that can be utilized by agents in the pursuit of change-

12. The prime institutional sites for cultural studies are those of higher education] and as such] cultural studies is like other academic disciplines- Nevertheless] it tries to forge connections outside of the academy with social and political movements] workers and cultural institutions] and cultural management.

13. पांडेय, मैनेजर, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, 2001, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, पृ.162

14. सरदार जियाउद्दीन और लून बोरिन वैन, 2010, पृ.27

# विवाह-प्रस्ताव

**अन्तोन चेखव**

**अनुवादक-डॉ. मंजुला दास**
प्राचार्य, सत्यवती महाविद्यालय, दि.वि.वि.

**दृश्य** : (चुबुकोफ़ का घर। पर्दा उठने पर चुबुकोफ़ दिखाई देता है। लोमोव प्रवेश करता है। उसने विशिष्ट पोशाक पहनी हुई है)

**चुबुकोफ़** : (उसके निकट जाकर अभिवादन करते हुए) अरे! यह मैं किसे देख रहा हूँ? मेरे अभिन्न मित्र! इवान वासिलिविच आपको देखकर अतीव प्रसन्नता हुई! (हाथ मिलाता है) यह तो सुखद आश्चर्य है! कैसे आश्चर्य है! कैसे हो तुम?

**लोमोव** : धन्यवाद! आप कैसे हैं?

**चुबुकोफ़** : बस गुज़र रही है, दोस्त। बैठो न। अपने पड़ोसी को यूँ भूल जाना अच्छा नहीं होता। एक बात तो बताओ, यह सजधज किसलिए? बढ़िया पोशाक, सफ़ेद दस्ताने बगैरह? क्या तुम किसी सगाई-समारोह में जा रहे हो, प्रिय मित्र?

**लोमोव** : नहीं तुम्हारे घर के अलावा मैं किसी विशेष अवसर पर कहीं नहीं जा रहा, समझे स्तीपान स्तीपानोविच।

**चुबुकोफ़** : फिर ऐसे बढ़िया कपड़े मित्र? आज क्या नववर्ष की रात है?

**लोमोव** : देखो बात बस यह है कि–(स्वयं को शान्त करता हुआ) स्तीपान स्तीपानोविच, मैं तुम्हारे पास आया हूँ एक विशेष प्रार्थना करते हुए, तुम्हें तकलीफ़ देने। यह पहली बार नहीं है कि सहायता माँगने के लिए मुझे तुम्हारे निकट आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। तुमने भी सदा-मतलब-क्षमा करना, मैं ज़रा आवेश में हूँ। मैं पहले पानी पीऊँगा, प्यारे स्तीपान स्तीपानोविच। (वह पानी पीता है)

**चुबुकोफ़** : (अलग से) यह पैसा उधार माँगने आया है! मैं तो फूटी कौड़ी न दूँ! (लोमोव से) प्रिय लोमोव आख़िर बात क्या है?

**लोमोव** : दरअसल–प्रिय स्तीपानोविच, क्षमा करना, स्तीपान-स्तीपैन डियरविच–मेरा मतलब–मैं बेतरह घबराया हुआ हूँ जैसा कि तुम भलीभाँति देख ही सकते हो। मैं असल में कहना यह चाहता हूँ–केवल तुम हो जो सहायता कर सकते हो, यद्यपि मैं इस लायक तो नहीं हूँ और–और अधिकार भी नहीं है कि तुमसे यह प्रार्थना करूँ।

**चुबुकोफ़** : अरे मित्र! क्या इधर-उधर की हाँक रहे हो, बताओं न, बात क्या है!

**लोमोव** : तुरंत–एक क्षण में। यह लो-सुनो फिर। मैं तुमसे तुम्हारी बेटी नताल्या स्तिपानवना का हाथ माँगने आया हूँ।

**चुबुकोफ़** : (प्रसन्नता से) फरिश्ते! इवान वासिलिविच! दुबारा कहो! मैंने ठीक से सुना नहीं।

**लोमोव** : मुझे प्रार्थना करने की इज़्ज़त बख़्शी जाए कि...

**चुबुकोफ़** : (बात काटता हुआ) मेरे प्यारे हमदर्द! मैं बहुत खुश हूँ कि जो-कुछ भी है–वह है। (आलिंगन में उसे लेकर चूमता है) कब-से इस क्षण की प्रतीक्षा थी। यह मेरी सबसे सुन्दर कामना थी! (आँसू छुपाता है) और प्यारे बच्चे, मैंने हमेशा तुम्हें अपने बेटे की तरह चाहा है! ईश्वर तुम्हारी मनोकामना पूरी करे और तुम्हें अपनी रहमतों से नवाज़े और–मैं हमेशा चाहता था कि काश! ऐसा हो जाए। अरे! पर मैं मूर्खों की तरह यहाँ क्यों खड़ा हूँ? खुशी के मारे मेरी तो बोलती ही बन्द हो गई है। एकदम गूँगा-सा हो गया हूँ। मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व-! मैं नताल्या को बुलाता हूँ।

**लोमोव** : प्रिय स्तीपान स्तीपानोविच, क्या विचार है, तुम्हारा? क्या नताल्या स्तिपानवना की स्वीकृति की आशा रखूँ।

**चुबुकोफ़** : एकदम! तुम्हारे जैसा भला लड़का–और तुम्हें लगता है कि वह एक क्षण में स्वीकार नहीं करेगी? प्रेम में पगलाई हुई जोगिन-सी नहीं हो जाएगी! (दायीं ओर बाहर जाता है।)

**लोमोव** : मैं कँपकँपा रहा हूँ। मेरा सारा शरीर ऐसे काँप रहा है, जैसे मेरी परीक्षा होनेवाली हो। हाथ पैर निर्जीव हो रहे हैं। परन्तु मुख्य बात है–मुद्दे को किसी फ़ैसले तक लाना। अगर एक व्यक्ति ज़रूरत से ज़्यादा ध्यान करे या हिचकिचाए या किसी मुद्दे के बारे में बकता-फैलाता फिरे, सच्चे प्रेम या आदर्श प्रेम की प्रतीक्षा करे तो उसे कुछ नहीं मिलता। बर्ऽऽर्... ठण्ड बहुत है। नताल्या बढ़िया गृह-व्यवस्थापक है, देखने सुनने में बुरी बिल्कुल नहीं है। अच्छी पढ़ी-लिखी है और क्या चाहिए भला मुझे? मैं तो इतना उत्तेजित हो रहा हूँ कि कानों के भीतर गर्जना-सी हो रही है।

(वह पानी पीता है) शादी ही न करूँ यह नहीं चल सकता! पहले तो मैं पैंतीस का हो चला हूँ–तुम कह सकते हो कि उम्र का नाजुक दौर है। दूसरी बात यह कि मुझे एक सामान्य जीवन जीना चाहिए। मेरा दिल कमज़ोर है। धड़कन लगातार बनी रहती है। मैं बहुत अधिक संवेदनशील हूँ। हमेशा उत्तेजना-सी बनी रहती है। मेरे होठ काँपने लगते हैं और माथे के दाईं ओर की नस बुरी तरह धुकधुक करने लगती है। इनमें सबसे बुरी है–नींद! मैं बस लेटकर अभी झपकी ही ले रहा होता हूँ कि मेरे शरीर के बायें हिस्से में कुछ खिंचाव और झटका आने लगता है। कोई चीज़ मेरे बाएँ कन्धे और सिर में भी जैसे हथौड़े चलाने लगती हैं! मैं एक पागल आदमी की तरह कूदकर उठता हूँ, थोड़ा चलता हूँ, फिर लेटता हूँ परन्तु जैसे ही नींद चढ़ती है, बगल में तेज़ नस चढ़ जाती है। बस यही पूरी रात चलता रहता है! नताल्या स्तिपानोवना आती है)

**नताल्या** : आह! यह तो तुम हो। पापा ने कहा, अंदर जाओ : वहाँ कोई डीलर है जो कुछ खरीदने आया है। इवान वासिलिविच, दोपहर शुभ हो।

**लोमोव** : प्रिय स्तिपानवना, आपका दिन अच्छा बीते!

**नताल्या** : क्षमा करना, मैंने ये पुराने कपड़े और एप्रेन पहना है: आज हम किसी काम में लगे हैं। तुम अक्सर हमसे मिलने क्यों नहीं आते? तुम बहुत दिनों से इधर नहीं आए थे! बैठ जाओ न। (वे बैठ जाते हैं) खाने के लिए कुछ ले लो?

**लोमोव** : धन्यवाद, मैंने अभी-अभी भोजन किया है।

**नताल्या** : सिगरेट? पी लो, माचिस वह रही। मौसम आज निखरा हुआ है, जबकि कल ही इतनी कसकर बारिश हुई थी कि मज़दूर रत्ती-भर काम नहीं कर पाए। तुमने कितनी ईंटें तुड़वा लीं? ज़रा सोचो! मैं तो इतनी बेचैन हो रही थी कि पूरा खेत कटवा डाला। अब पर मैं पछता रही हूँ क्योंकि डर है कि सूखी घास सड़ जाएगी। अच्छा होता मैं इंतजार कर लेती। परन्तु हाय यह सब क्या मज़ाक है? तुम तो बढ़िया पोशाक (ईवनिंग ड्रेस) में हो! वह भी एकदम आधुनिक फैशन की। क्या तुम किसी सामूहिक नृत्य (बॉल डाँस) में भाग लेने जा रहे हो? और तुम देखने में पहले से बेहतर भी दिखाई दे रहे हो। सचमुच। इतना क्यों बने-ठने हुए हो?

**लोमोव** : (उत्तेजित-सा) देखो, प्रिय नताल्या स्तिपानवना बात दरअसल यह है: मैंने निश्चय किया है कि तुम्हें बाध्य करूँ कि मेरी बात सुनो-वास्तव में वह एक आश्चर्य होगा और तुम ज़रूर क्रोधित हो जाओगी, पर मैं–(अलग से) उफ़! ठण्ड कितनी जानलेवा है।

**नताल्या** : क्या बात है? (चुप्पी) हूँऽऽ ऊँ!

**लोमोव** : मैं संक्षेप में कहने की कोशिश करूँगा। मेरी प्यारी नताल्या स्तिपानवना, जैसा कि तुम जानती हो, कई वर्षों से, मेरे बचपन से ही, मुझे तुम्हारे परिवार को जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जैसाकि तुम जानती हो, मैंने जिनसे यह एस्टेट वसीयत में पाई, वे मेरी बेचारी बुआ और उनके पति, सदा तुम्हारे पिता और तुम्हारी बेचारी माँ का अन्यतम आदर करते रहे। लोमोवों और चुबुकोफ़ो की दशकों से मैत्री रही है। उनके एक-दूसरे से सम्बन्ध सदा ही बहुत गहरे रहे हैं। यह भी एक बात है कि मेरी प्रॉपर्टी तुम्हारी प्रॉपर्टी से एकदम जुड़ी हुई है। अगर तुम्हें याद करने में तकलीफ़ न हो तो मेरे चारागाह तुम्हारे भोजपत्र के जंगलों के एकदम निकट है।

**नताल्या** : बीच में टोकने के लिए क्षमा करो। तुमने कहा, "मेरे चारागाह"–पर क्या वे तुम्हारे है?

**लोमोव** : हाँ, वे मेरे हैं।

**नताल्या** : क्या बकवास है! चारागाह हमारे हैं–तुम्हारे नहीं!

**लोमोव** : नहीं, मेरे हैं! और अब प्रिय नताल्या स्तिपानवना!

**नताल्या** : लो जी! यह तो मेरे लिए सचमुच में नया समाचार है। तुम्हारे भला कैसे हो गए?

**लोमोव** : कैसे? मैं उन चारागाहों की बात कर रहा हूँ जो तुम्हारे भोजपत्रों के जंगलों और मेरी पथरीली ईंटवाली ज़मीन के बीच हैं।

**नताल्या** : हाँ, वही तो! वे हमारे हैं।

**लोमोव** : नहीं, तुम भुलावे में हो, प्रिय नताल्या स्तिपानवना, वे मेरे हैं।

**नताल्या** : ठीक-से याद करने की कोशिश करो, इवान वासिलिविच क्या तुम्हें सम्पत्ति का वारिस बने ज़माना बीत गया है?

**लोमोव** : ज़माना तो बीता है! फिर भी जहाँ तक मुझे याद आता है वे चारागाह हमेशा से हमारे रहे हैं।

**नताल्या** : यह बात सरासर झूठ है। माफ़ करना, हो सकता है तुम्हें बुरा लगभग रहा हो।

**लोमोव** : प्रिय नताल्या स्तिपानवना, यह सब तो रिकॉर्ड में दर्ज़ है। यह सच है कि एक समय चारागाह का उत्तराधिकार विवादग्रस्त था। हाँ अब तो सभी जानते हैं कि वे मेरे हैं। इस बात पर बहस करने का तो अब कोई लाभ नहीं। ज़रा ध्यान से मेरी बात सुनो: मेरी बुआ की दादी ने न चारागाहों को बिना दाम लिए, तुम्हारे पिता के दादा के किसानों को निश्चित समय के लिए सौंप दिया था, बस तब तक जब तक कि वे मेरी दादी के लिए ईंटें बना रहे थे। इन लोगों ने चालीस साल तक बिना कोई दाम दिए, चारागाह का इस्तेमाल किया। वे वहाँ इस तरह रह रहे थे मानो उनकी ही मिल्कियत हो। ख़ैर चलो, बाद में जब–

**नताल्या** : इन बातों में तिल–भर सच्चाई नहीं हैं! मेरे दादा और मेरे पड़दादा भी जानते थे कि उनकी एस्टेट दलदल तक पहुँचती है, इसी कारण उन्हीं में चारागाह की भूमि भी आ जाने से वह भी तो हमारी ही हुई। अब इस बारे में और क्या बातचीत या बहस होगी, मैं तो समझ नहीं पा रही? यह तो बहुत ही चिढ़ानेवाली बात है।

**लोमोव** : मैं तुम्हें काग़ज दिखा दूँगा–नताल्या स्तिपानवना।

**नताल्या** : नहीं या तो तुम मज़ाक कर रहे हो, या ख़्वाहमख़्वाँ की बहस में मुझे उलझाना चाहते हो। यह बिल्कुल अच्छी बात नहीं है! हमारा इस सम्पत्ति पर तीन सौ सालों से मालिकाना हक़ है और अब अचानक तुम आसमान से टपककर बता रहे हो कि यह हमारे हक़ में नहीं हैं। इवान वासिलिविच, माफ़ करना मुझे, मुझे तो अपने कानों पर भरोसा ही नहीं हो रहा है। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, चारागाहों की क़ीमत कुछ ख़ास नहीं। पूरी तरह से देखा जाए तो पाँच एकड़ भी नहीं होंगे और मूल्य भी क्या होगा, बस कुछ सौ रूबल–ज़्यादा–से–ज़्यादा सौ रूबल, परन्तु जो अन्याय है, वह मुझे दु:खी करता है। तुम जो कुछ भी कहो, मैं अन्याय बर्दाश्त नहीं करूँगी।

**लोमोव** : अरे, कृपया तब तक तो सुन लो, जब तक मैं बात ख़त्म नहीं करता! तुम्हारे आदरणीय पिता के दादा के किसानों ने, जैसाकि मैं पहले ही अर्ज़ कर चुका हूँ, मेरी दादी के लिए ईंटें पकाई थीं। मेरी बुआ की दादी उनके अहसान का बदला देना–

**नताल्या** : दादा! दादी! बुआ ऽऽ! मुझे इनके बारे में कुछ नहीं पता। मुझे जो मालूम है वह यह कि चारागाहें हमारी हैं। बस बात ख़त्म।

**लोमोव** : नहीं, ये हमारी हैं।

**नताल्या** : तुम चाहे दो दिनों तक भी समझाते रहो चाहे बढ़िया कपड़ों के पाँच सूट भी पहनकर आओ, चारागाह तब भी हमारे है, हमारे! मैं तुम्हारी सम्पत्ति नहीं लेना चाहती परन्तु वह भी नहीं दूँगी जो कायदे से हमारा है।

**लोमोव** : नताल्या स्तिपानवना, मुझे चारागाहों की ज़रूरत नहीं है। मैं केवल सिद्धान्त पर दृढ़ हूँ। अगर तुम मान जाओ तो मेरी प्रार्थना है कि मेरी ओर से उपहार के रूप में उन्हें स्वीकार करो।

**नताल्या** : जब वे मेरे हैं तो मैं ही उन्हें तुम्हें दे सकती हूँ। बड़ी विचित्र बात है, ईवान वासिलिविच! अब तक हम तुम्हें एक अच्छा पड़ोसी और अच्छा दोस्त समझते आए हैं; पिछले ही वर्ष हमने तुम्हें दाँवने (Threshing) की मशीन उधार दी थी, जिसके कारण हम नवम्बर तक दाँव नहीं पाए और अब तुम हमसे चोरों–जैसा सुलूक कर रहे हो! तुम मुझे मेरी ही ज़मीन देने का प्रस्ताव रख रहे हो। माफ़ करना, पर पड़ोसी एक–दूसरे से ऐसे व्यवहार नहीं करते। मेरे विचार में, स्पष्ट तौर पर कहो तो बहुत ही निचले स्तर की चालाकी–

**लोमोव** : तो तुम्हारे हिसाब से मैं दूसरों का माल हड़पनेवाला बन्दा हूँ, है न! प्रिय नताल्या जी, मैंने कभी किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं हड़पी और मैं किसी को अपने ऊपर ऐसा आरोप लगाने की आज्ञा नहीं दूँगा। (वह तेज़ी से बोतल की ओर जाता है, और पानी पीता है) वे चारागाहें मेरी हैं!

**नताल्या** : सच्चाई कुछ और है! वे मेरी हैं!

**लोमोव** : मे ऽऽरी!

**नताल्या** : ओ? मैं सिद्ध कर दूँगी। इस दोपहर मैं अपने फ़सल काटनेवालों को चारागाहों में भेजूँगी।

**लोमोव** : क्या–आ–आऽऽ?

**नताल्या** : भगाकर देखना हिम्मत है तो!

**लोमोव** : सचमुच! चिल्लाने की ज़रूरत नहीं है। अगर चिल्लाना, दाँत पीसना और गुर्राना चाहते हो तो अपने घर जाकर करना परन्तु कृपया यहाँ मर्यादा की सीमा में रहो, हद से बाहर न निकलो।

**लोमोव** : प्रिय मैडम नताल्या, अगर मैं दिल की तेज़ धड़कन और कनपटियों की नसों पर हथौड़े-से पड़ने का शिकार नहीं होता तो तुमसे दूसरी तरह निबटता! (तीव्र स्वर में) वे चारागाहें मेरी हैं!

**नताल्या** : हमारी हैं।

**लोमोव** : मेरी! (चुबुकोफ़ दाईं ओर से प्रवेश करता है)

**चुबुकोफ़** : यहाँ क्या हो रहा है? यह किस बारे में इतना चीख़-चिल्ला रहा है?

**नताल्या** : पापा, ज़रा इस भलेमानस को बताना कि वे चारागाहें किसकी हैं? हमारी या उसकी?

**चुबुकोफ़** : (लोमोव से) प्रिय भाई, चारागाहहें हमारी हैं।

**लोमोव** : भगवान् भला करे, स्तीपान स्तीपानोविच, यह बात तुमने कह कैसे दी? कम-से-कम, तुम्हें तो तर्कसंगत बात करनी चाहिए। मेरी बुआ की दादी ने तुम्हारे दादा के किसनों को चारागाह बिना कोई धन लिए सौंप दी थी; किसान चालीस वर्ष तक उस ज़मीन पर रहे, उसे अपना समझकर इस्तेमाल करते रहे, परन्तु बाद में जब–

**चुबुकोफ़** : मुझे भी सच्चाई बयान करने की इज़ाज़त दी जाए। तुम भूल गए कि तुम्हारी दादी के किसानों ने कभी मुआवज़ा नहीं दिया, क्योंकि चारागाहों पर मुकदमा दर्ज़ था और सभी जानते हैं कि वे हमारे हैं। तुमने शायद नक्शा नहीं देखा!

**लोमोव** : मैं सिद्ध कर दूँगा कि वे मेरे हैं!

**चुबुकोफ़** : प्यारे भाई, सिद्ध करने की कोशिश भी न करना।

**लोमोव** : करूँगा!

**चुबुकोफ़** : मेरे प्यारे भाई, यह शोर-शराबा किसलिए? तुम जानते हो चीखने-चिल्लाने से कुछ सिद्ध नहीं होता। मैं तुमसे ऐसा कुछ नहीं माँगता जो तुम्हारी मिल्कियत है, पर ऐसा कुछ दूँगा भी नहीं जो वास्तव में मेरा है। अगर बात इतनी बढ़ चुकी है, प्यारे दोस्त कि तुम सचमुच में उन चारागाहों पर अपना मालिकाना हक़ जताने पर उतर जाए हो, तो मैं तुम्हारे बजाए उन्हें किसानों को देना ज़्यादा अच्छा समझूँगा और मैं यही करूँगा।

**लोमोव** : मुझे विश्वास नहीं होता! जो तुम्हारी है ही नहीं, उस सम्पत्ति को तुम किस अधिकार से दान में दे दोगे?

**चुबुकोफ़** : वाह-वाह! अब अपनी ही ज़मीन के साथ मैं क्या करूँ, यह भी तुमसे पूछना पड़ेगा। मेरे नौजवान साथी! लोग मुझसे इस आवाज़ में बात करें, यह मेरी बर्दाश्त से बाहर है। मैं इसका आदी नहीं हूँ। नौजवान मैं उम्र में तुमसे दुगुना बड़ा हूँ और मुझसे बात करते समय मर्यादा का ध्यान रखो।

**लोमोव** : नहीं! नहीं! तुम समझते हो, मैं बेवकूफ हूँ! तुम मेरा मज़ाक उड़ा रहे हो! मेरी सम्पत्ति को अपना कहने के बाद तुम चाहते हो कि मैं चुपचाप खड़ा रहूँ और सामान्य मनुष्य की तरह तुमसे बातचीत करता रहूँ, यह तरीका नहीं अच्छा होता एक अच्छे पड़ोसी के लिए स्तमीपान स्तीपानोविच! तुम कोई पड़ौसी-वड़ौसी नहीं हो। तुम तो ज़मीन हड़पने वाले सूदखोर-जैसे हो। वस यही है तुम्हारी पहचान!

**चुबुकोफ़** : क्या ऽऽ? क्या, कहा क्या इसने ?

**नताल्या** : पापा, कटाई करनेवालों को चारागाह में इसी क्षण भेजो!

**चुबुकोफ़** : श्रीमान्, क्या कहा था भला आपने?

**नताल्या** : चारागाह हमारे हैं और मैं उन्हें किसी दशा में नहीं लौटाऊँगी! किसी क़ीमत पर भी नहीं!

**लोमोव** : देखा जाएगा! अदालत में सिद्ध करके दिखा दूँगा कि वे मेरे हैं।

**चुबुकोफ़** : अदालत में! श्रीमान्, आपकी मर्जी है तो आप अदालत में नालिश कर सकते हैं! अरे, मैं तुम्हें जानता हूँ तुम तो इन्तज़ार ही कर रहे थे कि कोई बहाना मिले और तुम अदालत की राह पकड़ो। तुम एक षड्यन्त्रकारी हो, समझ गए! तुम्हारा सारा परिवार झगड़े के बहाने ढूँढता फिरता था, पूरा परिवार!

**लोमोव** : कृपा करके मेरे परिवार की बेइज़्ज़ती करने की कोशिश न करो। लोमोव लोगों की सम्पूर्ण वंशावली बहुत सम्माननीय रही है। किसी पर भी उस तरह गबन के मुकदमें की जाँच नहीं चली जैसी तुम्हारे प्यारे चाचे पर चली।

**चुबुकोफ़** : पूरी-की-पूरी वंशावली दिमाग़ से खिसकी हुई थी।

**नताल्या** : एक-से बढ़कर-एक।

**चुबुकोफ़** : तुम्हारी दादी पक्की शराबिन थी और वह छोटी बुआ नस्तासिया मिखाइलोवना, एक नक्शानवीस के साथ भाग गई थी।

**लोमोव** : और तुम्हारी माँ लँगड़ाती थी। (अपना हाथ अपने दिल पर रखता है) ओह, मेरी बगलों में

दर्द हो रहा है! मेरी कनपटियाँ फटी जा रही हैं। हे स्वर्गवासी ईश्वर! पानी!

**चुबुकोफ़** : तुम्हारा प्यारा बाप जुआरी था—जुआरी और पेटू!

**नताल्या** : कुछ और लड़कियों की तरह तुम्हारी बुआ के किस्से मशहूर थे!

**लोमोव** : तुम कुचक्री हो। ओह मेरा दिल! यह भी खुला सत्य है कि तुमने चुनाव में बेईमानी की। अरे मेरी आँखें धुँधली हुई जा रही हैं! मेरा हैट कहाँ है?

**नताल्या** : घटिया कहीं के! झूठे! गिरे हुए आदमी!

**लोमोव** : हैट कहाँ है? मेरा दिल! कहाँ मरूँ जाकर? कहाँ है दरवाज़ा? अरे ऐसा लगता है जैसे प्राण निकल रहे हैं! मैं जा भी नहीं पा रहा—पैर साथ छोड़ रहे हैं—(दरवाज़े के अन्दर जाता है)।

**चुबुकोफ़** : (उसके पीछे जाता हुआ) मेरे दरवाज़े को कभी अपवित्र न करना!

**नताल्या** : अदालत में अपनी नालिश लेकर आओ! बताते हैं तुम्हें! (लोमोव लड़खड़ाता हुआ बाहर जाता है, बीच का द्वार प्रयोग में लाता है)

**चुबुकोफ़** : (क्रोध में) शैतान!

**नताल्या** : इतना बेकार आदमी! फिर ऐसे लोग पड़ोसी-धर्म निबाहने की बात करते हैं।

**चुबुकोफ़** : बदमाश! बिजूखा! राक्षस!

**नताल्या** : ऐसे ठग पहले दूसरों की ज़मीन हड़प लेते हैं और फिर तर्क करके उलझने की हिम्मत भी रखते हैं!

**चुबुकोफ़** : और देखो यह मूर्ख इतनी हिम्मत रखता है कि विवाह-प्रस्ताव भी ले आया!

**नताल्या** : क्या? विवाह-प्रस्ताव?

**चुबुकोफ़** : और क्या! वह तुम्हारे सामने विवाह का प्रस्ताव ही तो रखने आया था।

**नताल्या** : आपने मुझे पहले ही यह क्यों नहीं बताया?

**चुबुकोफ़** : तभी तो इतनी बढ़िया पोशाक पहने था! ग़रीब मूर्ख!

**नताल्या** : मेरे लिए विवाह-प्रस्ताव, ओह! (एक आरामकुर्सी पर गिरकर, कराहने लगती है) वापिस लाओ उसे! वापिस बुलाओ!

**चुबुकोफ़** : किसे वापिस लाऊँ!

**नताल्या** : जल्दी बुलाओ, ज़ल्दी। मैं मरी जा रही हूँ, डूब रही हूँ! वापिस बुलाओ, उसे! (जैसे हिस्टीरिया का-सा दौरा पड़ने लगता है)।

**चुबुकोफ़** : क्या है यह सब? तुम्हारी क्या समस्या है? (माथे पर हाथ मारकर) लगता है, मेरे ऊपर किसी का श्राप है। मैं खुद को गोली मार लूँगा! फाँसी पर लटका लूँगा!

**नताल्या** : मैं मर रही हूँ! उसे लौटा लाओ!

**चुबुकोफ़** : ओफ़्फ़ोह! एक मिनट में! चिल्लाओ मत! (वह तेज़ी-से, बीच के दरवाजे से बाहर जाता है)।

**नताल्या** : (कराहती हुई) इन्होंने मेरे साथ क्या अनर्थ कर दिया? उसे लौटाकर लाओ! लौटाकर लाओ!

**चुबुकोफ़** : (दौड़ते हुए लौटकर) वह तुरन्त आ रहा है! उसे शैतान ले जाए! उफ़्फ़! खुद बात कर लो उससे! मैं नहीं करनेवाला!

**नताल्या** : उसे वापिस लाओ!

**चुबुकोफ़** : मैं तुम्हें बता रहा हूँ, वह आ रहा है। हे भगवान्! एक बड़ी लड़की का पिता होना भी आफ़त है। मैं अपना गला काट लूँगा! सचमुच काट लूँगा। हमने बन्दे के साथ झगड़ा कर लिया, उसकी बेइज़्ज़ती कर ली, उसे घर से बाहर निकाल दिया—और यह सब तुमने किया, तुमने!

**नताल्या** : नहीं तुमने! तुम्हें बोलने की तमीज़ नहीं है, पापा और तुम क्रूर हो। तुम्हारी वज़ह न होती तो वह जाता ही नहीं!

**चुबुकोफ़** : ओह, हाँ, मेरा ही दोष है! अगर मैंने खुद को गोली मारी या फाँसी पर लटकाया, तो याद रखना, कलंक तुम्हें ही लगेगा! तुमने मुझे ऐसा करने के लिए मजबूर किया है! तुमने! (लोमोव दरवाजे में दिखाई देता है) वह रहा। तुम अपने-आप उससे बात कर लो। (वह बाहर जाता है)।

**लोमोव** : भयानक धड़कन!—मेरी टाँग में लँगड़ाहट है! मेरी बगलों में दर्द हो रहा है—

**नताल्या** : हमें क्षमा करें, इवान वासिलिविच, हम गुस्से में थे। मुझे याद आ गया—चारागाह वास्तव में तुम्हारे हैं।

**लोमोव** : मेरा दिल बुरी तरह धड़क रहा है! मेरे चारागाह—मेरी आँखों के पपोटे कँपकँपा रहे हैं। (वे बैठ जाते हैं) हम ग़लती पर थे। बात केवल सिद्धान्त की थी—सम्पत्ति मेरे लिए इतनी मूल्यवान नहीं थी, पर सिद्धान्त बहुत महत्त्व रखता था।

**नताल्या** : वही तो, सिद्धान्त! चलो, किसी और विषय पर बात की जाए।

**लोमोव** : मेरे पास क्योंकि प्रमाण है कि मेरी बुआ की दादी ने तुम्हारे दादा के किसानों के साथ–

**नताल्या** : बस-बस बहुत हुआ! (एक ओर को होकर) मुझे समझ नहीं आ रहा कैसे शुरु करूँ (लोमोव से) क्या तुम ज़ल्दी ही शिकार पर जानेवाले हो?

**लोमोव** : हाँ, जंगली मुर्ग के शिकार पर, सम्माननीय नताल्या स्तिपानवना। फ़सल कटने के बाद निकलने की आशा रखता हूँ। अरे, क्या तुमने सुना? मेरा कुत्ता, यूगाडी देखा है ना–वह लँगड़ा रहा है!

**नताल्या** : बड़े अफ़सोस की बात है! ऐसा कैसे हुआ?

**लोमोव** : पता नहीं। या तो हड्डी खिसक गई है या किसी और कुत्ते ने काट लिया है। (वह आह भरता है) सर्वोत्तम कुत्ता जो मेरे पास था–उसके मूल्य के विषय में तो कहना ही क्या! मैंने उसके लिए माइरोनोव को एक सौ पच्चीस रूबल दिए।

**नताल्या** : इवान वासिलिविच! आपने बहुत रकम ख़र्च कर दी।

**लोमोव** : मेरे ख़्याल से तो सस्ता ही मिल गया। बढ़िया कुत्ता है!

**नताल्या** : पापा ने अपने ओतकताई के लिए पच्चासी रूबल दिए थे। फिर ओतकताई तुम्हारे यूगाडी से लाख दर्ज़े बेहतर है।

**लोमोव** : बहुत खूब! ओतकताई यूगाड़ी से बेहतर है? क्या ख़्यालात हैं! (ज़ोर से हँसता है) ओतकताई यूगाड़ी से बेहतर।

**नताल्या** : निश्चित रूप से बेहतर। यह सच है कि ओतकताई अभी छोटा है, पूरा जवान अभी नहीं हुआ, पर झुण्ड में या दो अथवा तीन के साथ पट्टे में बँधकर, उससे बढ़िया कोई नहीं है, यहाँ तक कि–

**लोमोव** : सचमुच माफ़ करना, नताल्या स्तिपानवना, परन्तु तुमने इस सत्य की अनदेखी कर दी कि उसका निचला जबड़ा छोटा है। छोटे निचले जबड़ेवाला कुत्ता काट-झपट नहीं सकता।

**नताल्या** : छोटा निचला जबड़ा? यह पहली बार है जो मैं यह सुन रही हूँ!

**लोमोव** : मैं निश्चय से कहता हूँ कि उसका निचला जबड़ा ऊपरवाले से छोटा है।

**नताल्या** : क्या तुमने नापा है उसे ?

**लोमोव** : हाँ मैंने नापा है। यद्यपि दौड़ने में वह तेज़ है।

**नताल्या** : पहली बात तो यह कि हमारा ओतकताई शुद्ध प्रजाति का है। शैपरागावस और स्तेमैकिस का तेजस्वी बेटा, और जहाँ तक तुम्हारे दोगले कुत्ते का प्रश्न है, उसके तो वंश और बाप का पता नहीं, वह बूढ़ा और बदसूरत है। बूढ़ी डायन की तरह चिमड़ा-सुकड़ा।

**लोमोव** : प्रौढ़ सचमुच! मैं तो उसके बदले में तुम्हारे पाँच ओतकताई भी न खरीदूँ! यूगाडी है कुत्ता और ओतकताई है–ख़ैर बहस करना भी हास्यास्पद है! किसी भी कुत्ते के डीलर के पास तुम्हारे ओतकताई जैसे दर्ज़नों कुत्ते मिल जाएँगे, पूरे दर्ज़नों!

**नताल्या** : इवान वासिलिविच, आज तुम बहुत ऊटपटाँग बातें कर रहे हो। पहले तो हमारे चारागाहों को अपना कहने लगे और अब यूगाडी को ओतकताई से बेहतर बता रहे हो। मुझे यह पसन्द नहीं कि इन्सान के मन में तो कुछ और हो, पर ज़ुबाँ पर कुछ और। जानते तुम अच्छी तरह हो कि ओतकताई तुम्हारे पगले युगाडी से सौ गुना बेहतर है। जाने क्या घुसा है तुममें जो नकारे जा रहे हो!

**लोमोव** : मैं समझ रहा हूँ नताल्या स्पितानवना कि या तो तुम मुझे अन्धा समझती हो या बेवकूफ़! चलो, पर कम-से-कम यह तो मानोगी कि ओतकताई का निचला जबड़ा छोटा है!

**नताल्या** : ऐसा कुछ नही हैं।

**लोमोव** : हाँ, एक छोटा निचला जबड़ा!

**नताल्या** : (ज़ोर से) ऐसा कुछ नहीं है!

**लोमोव** : कुमारी जी, पता चले क्यों चिल्ला रही हैं आप!

**नताल्या** : ऐसी नासमझी की बातें क्यों कर रहे हो? अभद्रता है यह! यूगाडी को तो गोली मार देनी चाहिए, समय आ गया है और तुम हो कि अब भी ओतकताई से उसकी तुलना किए जा रहे हो।

**लोमोव** : माफ़ करना, मैं इस बहस को और नहीं खींच पाऊँगा। मुझे दिल के तेज़ धड़कने की बीमारी है!

**नताल्या** : मैंने अक्सर ध्यान दिया है कि जो शिकारी ज़्यादा डींगे हाँकते हैं, उन्हें शिकार का 'क, ख' पता नहीं होता।

**लोमोव** : प्रिय कुमारी, मैं प्रार्थना करता हूँ, चुप रहो। मेरा दिल फट रहा है! (चिल्लाता है) चुप रहो!

**नताल्या** : तब तक चुप नहीं रहूँगी, जब तक तुम यह स्वीकार न कर लो कि ओतकताई बेहतर है। (चुबुकोफ़ प्रवेश करता है)।

**चुबुकोफ़** : अरे, क्या दोबारा शुरु हो गए?

**नताल्या** : पापा, साफ़-साफ़ बताओ, आपको कसम है, कौन-सा कुत्ता बेहतर है, ओतकताई या यूगाडी!

**लोमोव** : स्तीपान स्तीपानोविच, मैं प्रार्थना करता हूँ, बस इसका उत्तर दे दो! तुम्हारे कुत्ते का निचला जबड़ा छोटा है या नहीं? हाँ या ना ?

**चुबुकोफ़** : क्या हो जाएगा, अगर हो तो ? क्या यह इतना महत्त्वपूर्ण है? पूरे गाँव में उससे बेहतर कुत्ता नहीं है।

**लोमोव** : मेरा यूगाडी उससे बेहतर है। सच बोलो, ज़ल्दी।

**चुबुकोफ़** : प्यारे बन्धु! इतना उत्तेजित क्यों हो रहे हो! मुझे अनुमति दो। तुम्हारे यूगाडी के पास निश्चय ही कुछ अच्छे गुण हैं। वह अच्छी प्रजाति से है, भागने में बढ़िया है, मज़बूत पुट्ठे हैं और ऐसी ही बहुत-सी बातें। परन्तु इस कुत्ते में, हाँ अगर सचमुच जानना ही चाहते हो तो सुन लो, दो दोष हैं, वह बूढ़ा है और उसका निचला जबड़ा छोटा है।

**लोमोव** : क्षमा करना, मुझे दिल के तेज़ धड़कने की बीमारी है!-अच्छा होगा अगर हम सत्य पर क़ायम रहें-याद करो ज़रा मारूस्किन की चारागाहों में, मेरा यूगाडी काउण्ट रासबचाय के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाए रहा था और तुम्हारा कुत्ता ?

**चुबुकोफ़** : वह रेस में पीछे था क्योंकि काउण्ट ने हण्टर से उसे मारा था।

**लोमोव** : बिल्कुल ठीक! और सब कुत्ते लोमड़ की खुश्बू के पीछे भाग रहे थे जबकि ओतकताई नासमझ ने भेड़ को काट खाया था।

**चुबुकोफ़** : यह ग़लत है-मैं इन विषयों में संवेदनशील हूँ और तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि इस तर्क-वितर्क को बन्द करो। उसने हण्टर से इसलिए मारा क्योंकि सब एक उत्तम नस्ल के विचित्र कुत्ते को ईर्ष्या से देखते हैं। श्रीमान्! यह काम तुम भी करते हो। यूगाडी से कोई बेहतर कुत्ता तुम्हें दिखा नहीं कि तुमने मेरा-तेरा, यह-वह, वग़ैरह-वग़ैरह शुरु किया नहीं। मुझे स्पष्ट रूप से याद है।

**लोमोव** : याद तो मुझे भी कुछ है।

**नताल्या** : (उसकी नक़ल उतारता हुआ) याद तो मुदे भी तुछ है। क्या याद है तुम्हें?

**लोमोव** : दिल की तेज़ धड़कन! मेरी टाँग में लँगड़ाहट है-मैं हिलडुल नहीं-

**नताल्या** : धड़कन तेज! तुम किस किस्म के शिकारी हो? तुम्हें तो रसोई में गैस के पास खड़े होकर आलू छीलने की मशक्कत करनी चाहिए न कि शिकार पर जाना चाहिए। तेज धड़कन!

**चुबुकोफ़** : तुम हो किस किस्म के शिकारी? तुम्हारी-जैसी बीमारीवाले आदमी को घर पर रहना चाहिए न कि घोड़े की पीठ पर बैठे उछलना-घूमना चाहिए। काश तुम शिकारी होते-तुम तो इसलिए घुड़सवारी करते फिरते हो कि दूसरों के कुत्तों के बारे में मालूमात कर लो, दूसरों को खूब परेशान कर दो। मैं संवेदनशील हूँ! चलो यह विषय अब ख़त्म करो वैसे भी तुम कोई शिकारी-विकारी नहीं हो।

**लोमोव** : तुम केवल काउण्ट की चापलूसी करने के लिए घोड़े पर चढ़े घूमते हो। आह मेरा दिल! तुम षड्यत्रकारी! झाँसा-पट्टी करनेवाले!

**चुबुकोफ़** : क्या बकवास लगा रखी है? (चिल्लाकर) चुप करो!

**लोमोव** : कुचक्री!

**चुबुकोफ़** : छुटके! पिल्ले! चलती-फिरती दवा की दुकान!

**लोमोव** : बूढ़े चूहे! समझ गया हूँ तुम्हें!

**चुबुकोफ़** : चुप हो जा! नहीं तो गोली मार दूँगा-अपनी सबसे बुरी बन्दूक से, तीतर की तरह, बदमाश!

**लोमोव** : सबको पता है-आह! मेरा दिल!-कि तुम्हारी बेचारी मृत पत्नी तुम्हें पीटा करती थी। मेरी टाँग-मेरी कनपटियाँ-ईश्वर-मैं मर रहा हूँ-मैं-

**चुबुकोफ़** : तुम्हारी तो घरेलू बाई असल में घर की मालकिन है!

**लोमोव** : आ-ऊह-हाय-रे-मेरा दिल फट रहा है! मेरे कन्धे फटे जा रहे हैं। मेरा कन्धा है कहाँ? मैं मर

रहा हूँ! (वह एक कुर्सी पर गिर जाता है) डॉक्टर को बुलाओ! (बेहोश हो जाता है)।

**चुबुकोफ़** : उँह बच्चा! अधपका आम! बेवकूफ़!

**नताल्या** : बढ़िया शिकारी हो तुम! तुम तो घोड़े पर बैठना तक नहीं जानते (चुबुकोफ़ से) पापा इसे हुआ क्या है? (वह चिल्लाती है) इवान वासिलिविच! अरे यह मर गया है!

**लोमोव** : (अधूरे-से होश में आता हुआ) मैं बीमार हूँ! मैं साँस नहीं ले पा रहा! उफ़्फ़ हवाऽऽ! (गिर-सा जाता है)।

**नताल्या** : यह मर गया! (वह कुर्सी में लोमोव को झकझोरती है) इवान वासिलिविच! हम क्या कर बैठे! यह मर गया! (कुर्सी में धँस जाती है) डॉक्टर-डॉक्टर! (वह हिस्टीरिया के से दौरे के प्रभाव में आ जाती है)।

**चुबुकोफ़** : आऽऽह! बात क्या है? क्या मामला हो गया तुम्हारे साथ?

**नताल्या** : (कराहते हुए) वह मर गया—हा! मर गया!

**चुबुकोफ़** : कौन मर गया? कौन? (लोमोव की ओर देखकर) हाँ, यह मर गया! हे ईश्वर! पानी! डॉक्टर! (लोमोव के होठों तक गिलास बढ़ाता हुआ) पिओ! नहीं! यह नहीं पी पाएगा। यह मर गया है। कितनी भयानक स्थिति है! मैंने खुद को गोली क्यों नहीं मार ली? मैंने अपना गला क्यों नहीं काट लिया? अब भी वैसे मैं इन्तज़ार किसका कर रहा हूँ? केवल मुझे एक चाकू दे दो। मुझे पिस्तौल दे दो! (लोमोव हिलता है) यह होश में आ रहा है! थोड़ा पानी पी लो—लो!

**लोमोव** : चिंगारियाँ! कुहासा! मैं कहाँ हूँ?

**चुबुकोफ़** : शादी कर लो! इसी वक्त! बाद में चाहे तुम्हें शैतान ले जाए! नताल्या तैयार है। (वह नताल्या का हाथ लोमोव के हाथ से मिलाता है)वह मान गई है! बस मुझे बख़्श दो!

**लोमोव** : (उठाता हुआ) क्या? कौन?

**चुबुकोफ़** : वह मान गई है! समझे? एक-दूसरे का चुम्बन लो और—शैतान दोनों को ले जाए, मेरी बला से!

**नताल्या** : (कराहकर) वह जीवित है। हाँ—हाँ मैं राजी हूँ।

**चुबुकोफ़** : एक-दूसरे का चुम्बन लो!

**लोमोव** : हैं? किसका? (नताल्या और लोमोव चुम्बन लेते हैं) बहुत बढ़िया—क्षमा करें, यह सब किसलिए? ओह हाँ, मैं समझ गया! मेरा हृदय स्फुलिंग छोड़ रहा है—मैं खुश हूँ नताल्या स्तिपानवना। (वह उसका हाथ चूमता है) मेरी टाँग में लगड़ाहट है।

**नताल्या** : मैं भी प्रसन्न हूँ।

**चुबुकोफ़** : आऽऽह! मेरे कन्धों से बहुत बड़ा बोझ उतरा! चैन मिला!

**नताल्या** : और आखिर अब तो तुम स्वीकार करोगे कि यूगाड़ी, ओतकताई से काफ़ी निचले दर्ज़े का कुत्ता है!

**लोमोव** : हुँऽऽ, बेहतर है।

**नताल्या** : घटिया है।

**चुबुकोफ़** : अब घरेलू खुशियाँ शुरु हुईं—शैम्पेन!

**लोमोव** : बेहतर!

**नताल्या** : घटिया, घटिया, घटिया!

**चुबुकोफ़** : (उन्हें विषय से बाहर खींचते हुए) शैम्पेन, शैम्पेन!

**(पर्दा गिरता है)**

# प्रतिबिम्ब-हिन्दी साहित्य सभा

अकादमिक वर्ष 2015-16 में 'प्रतिबिम्ब' हिन्दी साहित्य सभा के विभिन्न कार्यक्रमों एवं कार्यप्रणाली ने सामूहिकता की भावना एवं लोकतंत्र की ज़मीन को मजबूत किया है। हिन्दी साहित्य सभा का संचालन डॉ. राजेश कुमार, डॉ. विनोद कुमार चौबे, डॉ. राकेश कुमार सिंह, डॉ. प्रवीण कुमार, डॉ. मनोज कुमार एवं श्री अजय कुमार ने किया। विद्यार्थियों के ऑरिएण्टेशन कार्यक्रम से साहित्य सभा का आगाज़ हुआ। तत्पश्चात विद्यार्थी कार्यकारिणी का गठन किया गया, जिसमें गौरव चौधरी, विपाशा द्विवेदी, अंकित सरोह, वेदप्रकाश, सतेन्द्र, फिरदौस और तानिया लाम्बा का चयन हुआ।

'विश्व में हिन्दी भाषा' विषय पर कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के रिसर्च स्कॉलर ग्रैग गुंडलिन ने अपने अनुभव और विचार साझा किए। इस कार्यक्रम की कमान डॉ. प्रवीन कुमार ने सँभाली। डॉ. राकेश कुमार सिंह की पहल पर प्रो. गिरीश्वर मिश्र (कुलपति महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालया) को 'भूमंडलीकरण के दौर में हिन्दी' विषय पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया।

'लेखक से मुलाकात आलोचक के साथ' शीर्षक से एक महत्त्वपूर्ण शृंखला का आरंभ किया गया। इस शृंखला की पहली कड़ी में डॉ. मुकेश मानस और डॉ. राजेश कुमार की पहल पर दक्षिण भारतीय लेखक एवं सेंटर फॉर दलित स्टडी के निदेशक वाई.वी. सत्यनारायण और वरिष्ठ दलित लेखक जयप्रकाश कर्दम जी को आमंत्रित किया गया, जिसमें उन्होंने 'मेरे पिता बालैय्या', आत्मकथा के संदर्भ में बातचीत की। इसी शृंखला की अगली कड़ी में डॉ. प्रवीण कुमार एवं डॉ. राजेश कुमार की पहल पर वरिष्ठ कवि अशोक वाजपेयी एवं हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो. गोपेश्वर सिंह को आमंत्रित किया गया। इस कार्यक्रम में दोनों अतिथियों ने 'आज के समय में कविता' विषय पर बातचीत की। इस कार्यक्रम की कमान डॉ. मुन्ना पाण्डेय ने सँभाली।

डॉ. मुकेश मानस, डॉ. राकेश सिंह, डॉ. राजेश कुमार एवं डॉ. मनोज कुमार की पहल पर 'अम्बेडकर जयंती' का आयोजन प्रस्तावित था, जिसमें डॉ. विजय सोनकर शास्त्री, वरिष्ठ दलित आलोचक कँवल भारती, डॉ. विमल थोराट, अशोक भारती, एवं प्रो. बद्रीनारायण आमंत्रित थे। इस कार्यक्रम की थीम 'वर्तमान समय में अम्बेडकर की जरूरत' दलित संदर्भों के अलावा अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में डॉ. अम्बेडकर के महत्त्व को रेखांकित करने का प्रयास था। आयोजन तिथि 16 अप्रैल 2016 को सत्यवती परिवार के लिए अत्यन्त दुःखद घटना घटित हुई कि इतिहास विभाग के शिक्षक डॉ. अनिल राय का देहान्त हो गया, यह आयोजन डॉ. अनिल राय को श्रद्धांजलि के रूप में समर्पित करके स्थगित किया गया। हिन्दी विभाग ने संकल्प लिया कि डॉ. अनिल राय की स्मृति में आगामी वर्षों में अम्बेडकर जयंती का आयोजन करेंगे। सत्र के अंत में विद्यार्थियों के लिए कविता प्रतियोगिता का आयोजन प्रस्तावित हुआ। इस कार्यक्रम में प्रतियोगिता के साथ-साथ-पाठ का आयोजन भी होना था, जिसमें हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि आमंत्रित थे। लेकिन सत्र के अंत की व्यस्तताओं और प्रशासनिक कारणों से यह आयोजन पूर्ण नही हो सका, इसका हमें खेद है। साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों को व्यापक आयाम देने के लिए इस सत्र से विभागीय पत्रिका 'अकथ' का प्रकाशन आरंभ हो रहा है। विभागीय बैठक में निर्णय लिया गया कि 'अकथ' पत्रिका के संपादन मण्डल के सदस्यों का कार्यकाल अधिकतम् दो वर्ष होगा। इसका प्रकाशन हिन्दी साहित्य सभा के कोष से किया जायेगा।

बी.ए. ऑनर्स (हिन्दी) अंतिम वर्ष के विद्यार्थियों के विदाई समारोह की कमान श्री अजय कुमार एवं डॉ. विनोद चौबे ने सँभाली है। बी.ए. ऑनर्स (हिन्दी) प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों के स्वागत समारोह में डॉ. विनोद चौबे, डॉ. राकेश कुमार सिंह, डॉ. प्रवीण कुमार एवं श्री अजय कुमार की महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ रहीं।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी 'हिन्दी भाषा एवं साहित्य में अस्मितामूलक विमर्श' ने हिन्दी विभाग ही नहीं अपितु सत्यवती महाविद्यालय की 'अस्मिता' को गरिमामय बनाया है।

विद्यार्थियों के ऑरिएण्टेशन कार्यक्रम के दौरान इस दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी की नींव पड़ी। अततः व्यापक स्तर पर सफल एवं सार्थक यह दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी, संपन्न हुई। इस संगोष्ठी की आयोजन समिति में डॉ. कविता राजन, डॉ. मुकेश मानस, डॉ. प्रवीण कुमार, डॉ. विनोद कुमार चौबे, डॉ. रचना बिमल, डॉ. विदित अहलावत एवं डॉ. संजय सेठ ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मैं सबको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

**राजेश कुमार**
हिन्दी विभाग

प्रतिबिम्ब-हिन्दी साहित्य सभा
प्रतिबिम्ब
लेखक से मुलाकात और चर्चा
PIRATES
साहित्य सभा
2016

# संगतकार

मुख्य गायक के चट्टान जैसे भारी स्वर का साथ देती
वह आवाज सुंदर कमजोर काँपती हुई थी
वह मुख्य गायक का छोटा भाई है
या उसका शिष्य
या पैदल चलकर सीखने आने वाला दूर का कोई रिश्तेदार
मुख्य गायक की गरज में
वह अपनी गूँज मिलाता आया है प्राचीन काल से
गायक जब अंतरे की जटिल तानों के जंगल में
खो चुका होता है
या अपने ही सरगम को लाँघकर
चला जाता है भटकता हुआ एक अनहद में
तब संगतकार ही स्थाई को सँभाले रहता है
जैसे समेटता हो मुख्य गायक का पीछे छूटा हुआ सामान
जैसे उसे याद दिलाता हो उसका बचपन
जब वह नौसिखिया था
तारसप्तक में जब बैठने लगता है उसका गला
प्रेरणा साथ छोड़ती हुई उत्साह अस्त होता हुआ
आवाज से राख जैसा कुछ गिरता हुआ
तभी मुख्य गायक को ढाँढस बँधाता
कहीं से चला आता है संगतकार का स्वर
कभी-कभी वह यों ही दे देता है उसका साथ
यह बताने के लिए कि वह अकेला नहीं है
और यह कि फिर से गाया जा सकता है
गाया जा चुका राग
और उसकी आवाज में जो एक हिचक साफ सुनाई देती है
या अपने स्वर को ऊँचा न उठाने की जो कोशिश है
उसे विफलता नहीं
उसकी मनुष्यता समझा जाना चाहिए।

– मंगलेश डबराल ( साभार )